रचयिता-परिचयकण

जन्मतिथि : ६ अगस्त, १९१५

माता का नाम :
स्व० श्रीमती रामराजी पाण्डेय

पिता का नाम :
स्व० पं० गोपालजी पाण्डेय

बालविवाहिता :
स्व० श्रीमती रोशनी पाण्डेय

युवापरिणीता :
स्व० श्रीमती चन्द्रावती पाण्डेय

जन्मस्थान : शाहपुर पट्टी, जिला–भोजपुर (बिहार)

१. स्वाधीनता-संग्राम में : १९३० एवं १९४२ ई०, अन्ततः कारावास, पेन्शन-परित्याग ।

२. व्यवसाय : पत्रकारिता । प्रधान सम्पादक, दैनिक 'नवराष्ट्र', दैनिक 'विश्वमित्र', साप्ताहिक 'अग्रदूत', स्वदेश, 'नवीन बिहार', 'बिहार-जीवन', मासिक 'पाटल' एवं 'बालक'

३. व्यवसायक्रम में कार्यक्षेत्र : कलकत्ता, काशी, कानपुर, पटना, भागलपुर ।

४. उच्चतम सम्मानोपाधि : 'साहित्यवाचस्पति', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की उच्चतम सम्मानोपाधि ।

५. उच्चतम गैरसरकारी पद : अध्यक्ष, बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन (तीन बार); अध्यक्ष, बंग प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन । वरिष्ठ उपाध्यक्ष, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

६. उच्चतम सरकारी पद : बिहार सरकार की (उच्चतम) हिन्दी-समिति के द्वितीय (अंतिम) अध्यक्ष । प्रथम अध्यक्ष थे डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ।

७. बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् के बिहार सरकार की उपेक्षानीति के विरोध में एकमात्र पदत्यागी निदेशक ।

८. प्रकाशित काव्यकृतियाँ : १. 'गणदेवता' (संग्रह), २. 'अशोक' (प्रबन्ध-काव्य), ३. 'शक्तिमयी' (काव्यचयनिका), ४. 'राष्ट्रव्यंजना' (काव्यचयनिका), ५. 'युगान्तर' (प्रयोगात्मक महाकाव्य), ६. 'लोकायन' (प्रयोगात्मक महाकाव्य)

९. प्रकाशित हो रहे हैं : ७. 'युवा ज्योति' (युवावर्ग सम्बन्धी छह सर्ग), ८. 'नवोदय' (बालक-बालिकाओं के संदर्भ में सात सर्ग) ।

पता : 'देवगीत', आशियाना नगर, पटना–८०००१४ (बिहार)

आवरण : प्रशान्त

लोकायन महाकाव्य ० रामदयाल पाण्डेय

लोकायन

महाकाव्य

पाण्डेय

'लोकायन'

(प्रयोगात्मक महाकाव्य)

रचयिता :

रामदयाल पाण्डेय

प्रकाशक :

पाण्डेय रचनावली प्रकाशन

'देवगीत', आशियाना नगर

पटना—८०००१४

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान :
पाण्डेय रचनावली प्रकाशन
'देवगीत', आशियाना नगर
पटना—८०००१४

सर्वाधिकार : रचयिता

प्रथम संस्करण

प्रकाशन-वर्ष : १९९२ ई०

मूल्य : एक सौ रुपये

मुद्रक :
न्यू साहनी प्रिंटिंग प्रेस
४/५६, राजेन्द्र नगर
पटना—८०००१६

स्मृति-तर्पण

डा० काशी प्रसाद जायसवाल
राजा राधिकारमण प्र० सिंह
महापण्डित राहुल सांकृत्यायन
पं० नन्दकिशोर तिवारी
पं० पारसनाथ त्रिपाठी
श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
कविवर मोहनलाल महतो 'वियोगी'
कविवर जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'
कविवर मनोरंजन
कविवर केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'
कविवर कलक्टर सिंह 'केसरी'
कविवर गोपाल सिंह 'नेपाली'
कविवर हंसकुमार तिवारी

का
रामदयाल पाण्डेय
द्वारा
सादर ।

सस्नेह समर्पण

- श्री नवलकिशोर गौड़
- श्रीमती शारदा वेदालंकार
- श्री रमाकान्त श्रीवास्तव (लखनऊ)
- श्री ज्ञानेश्वर प्रसाद
- श्री रामपूजन तिवारी
- श्रीमती उर्मिला कौल
- डा० श्रीनिवास
- श्री हृदय नारायण
- श्री उदय राज सिंह
- श्री वासुदेवनन्दन प्रसाद
- श्री केदारराम गुप्त
- श्री सुरेन्द्रनाथ दीक्षित
- श्री कुमार विमल
- श्री श्रीरंजन सूरिदेव
- श्रीमती रत्ना शर्मा
- श्री विश्वनाथ प्र० सिंह
- श्री शशिशेखर तिवारी
- श्री विष्णु किशोर झा 'बेचन'
- श्री अनुरंजन प्रसाद सिंह
- श्री शंकरदयाल सिंह
- श्री रामेश्वरनाथ तिवारी
- श्री कुबेरनाथ राय (गाजीपुर)
- श्री जितराम पाठक
- श्री मोहन प्रेमयोगी
- श्री रामेश्वर प्र० सिंह
- श्री तपेश्वरनाथ प्रसाद
- सुश्री अमिता शर्मा (शिमला)

- ☐ श्रीमती प्रकाशवती नारायण
- ☐ श्री कृष्णकुमार विद्यार्थी
- ☐ श्रीमती उषारानी सिंह
- ☐ डा० जितेन्द्र सहाय
- ☐ श्री अमर कुमार सिंह
- ☐ श्रीमती मीरा कुमार
- ☐ श्री आनन्द शास्त्री
- ☐ श्री रॉबिन शा पुष्प
- ☐ श्री विंध्यवासिनी दत्त त्रिपाठी
- ☐ श्री शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव
- ☐ श्री अमरनाथ सिन्हा
- ☐ श्री रघुनाथ प्र० 'विकल'
- ☐ श्री आनन्दनारायण शर्मा
- ☐ सुश्री अन्नपूर्णा देव
- ☐ श्री नृपेन्द्रनाथ गुप्त
- ☐ श्री हिमांशु श्रीवास्तव
- ☐ श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह
- ☐ श्री खगेन्द्र प्रसाद ठाकुर
- ☐ श्री केदारनाथ 'कलाधर'
- ☐ श्री ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन'
- ☐ श्री रामप्यारे तिवारी
- ☐ श्री महेश नारायण
- ☐ श्री अविनाशचन्द्र विद्यार्थी
- ☐ श्री दीनानाथ शरण
- ☐ श्री श्रीनारायण सिंह
- ☐ श्री डोमन साहु 'समीर'
- ☐ श्री गिरिजा शंकर मोदी
- ☐ श्री श्रीराम तिवारी
- ☐ श्री तेजनारायण कुशवाहा
- ☐ श्री तैयब हुसेन
- ☐ श्री सत्येन्द्र 'अरुण'
- ☐ श्री वैद्यनाथ शर्मा
- ☐ श्री नागेन्द्रनाथ पाण्डेय
- ☐ श्री त्रिभुवन ओझा
- ☐ श्री शंकर प्रसाद सिंह
- ☐ श्री कैलाशनाथ तिवारी
- ☐ श्री कमला प्रसाद 'बेखबर'
- ☐ श्री शिववंश पाण्डेय
- ☐ श्री बालेन्दु शेखर तिवारी
- ☐ श्रीमती मिथिलेश कुमारी मिश्र
- ☐ श्री सरयू सिंह 'सुमन'
- ☐ श्री शंकरलाल मस्करा
- ☐ श्री रमेशचन्द्र झा
- ☐ श्री शंकरमोहन झा
- ☐ श्री सतीशराज पुष्करणा
- ☐ श्री 'स्वर्ण किरण'
- ☐ श्री निशान्तर
- ☐ श्री रामयतन प्रसाद यादव
- ☐ श्रीमती पुष्पा श्रीवास्तव
- ☐ श्रीमती आशा प्रसाद
- ☐ श्री विजय अमरेश
- ☐ श्री ललित कुमुद
- ☐ श्री सिद्धेश्वर
- ☐ श्री कैलाश प्रसाद सिंह 'स्वच्छन्द'
- ☐ श्री चन्द्रप्रकाश 'माया'
- ☐ श्री रामेश्वर चौधरी
- ☐ श्री मयंकभूषण पाठक

आदि, आदि, आदि को ।

—रामदयाल पाण्डेय

अनुक्रम

□

नमन

भूमिका का यह शीर्षक रचयिता की आर्थिक अक्षमता का सूचक है। समस्त कृपालुओं को नमन समर्पित करना ही चाहिए। यों आगामी प्रकाशन की भी कुछ सम्भावना हुई है।

इस काव्यकृति के प्रकाशन में भी भारी अर्थाभाव बना रहा और तज्जनित सीमाओं में ही यह प्रकाशन हो रहा है। तदनुसार इस निवेदन को भी सीमित रखना पड़ रहा है। कहीं जाने-आने में अक्षमता एवं विहित वाहन-व्यवस्था प्रायः असम्भव रहने के कारण विक्रय-व्यवस्था भी तो असम्भव ही है। फिर भी लेखन-कार्य तो प्रायः चलता ही रहता है, और मेरी अन्तिम साँस तक चलेगा ही। अस्तु।

इस प्रयोगात्मक महाकाव्य का प्रकाशन सर्वथा आवश्यक था क्योंकि इसके पूर्व प्रकाशित 'युगान्तर' (प्रयोगात्मक महाकाव्य) का पूरक है 'लोकायन' और दोनों को क्रमशः लगातार) पढ़ना ही सम्यक् होगा। क्रमशः दोनों के पारायण से यह सत्यबोध होगा ही। दोनों के सर्ग-शीषकों की सूची से भी यह प्रत्यक्ष होता है।

१. 'गणदेवता' (काव्यसंग्रह), २. 'अशोक' (प्रबन्ध काव्य), ३. 'शक्तिमयी' (नारीशक्ति-काव्यचयनिका), ४. 'राष्ट्रव्यंजना' (राष्ट्र के विविध आयामों की काव्यचयनिका), ५ 'युगान्तर' और '६० लोकायन' तक की प्रकाशन-यात्रा के कृपालु सहयोगियों के प्रति मैं चिर कृतज्ञ रहूँगा।

इस प्रसंग में विशेष लेखन आवश्यक नहीं है। अपनी काव्ययात्रा के प्रारम्भिक काल में ही, 'गणदेवता' के पुरोवाक् (कुछ दर्शन, कुछ चिन्तन) में ही यह संकेत दे चुका था कि साहित्यकारों का दार्शनिक पक्ष होना ही चाहिए और उन्हें कुछ स्वतंत्र चिन्तन भी करना ही चाहिए। हमारा तथा सभी मानवों का कुछ राष्ट्रीय दर्शन तो होता ही है परन्तु उनका कुछ स्वतंत्र एवं स्वकीय चिन्तन भी अवश्य होना चाहिए, जो सुधारोन्मुख एवं क्रान्तिमूलक हो। तदनुसार ही मैं चिन्तन तथा लेखन करता रहा हूँ। इस चेतना के अनुरूप ही हमारा स्वाधीनता-संग्राम था। अतः मैंने

उसमें अपना यथाशक्ति योगदान आवश्यक माना ओर अन्ततः कारायात्रा भी की । वस्तुतः वह देशभक्ति थी, कोई राजनीति नहीं । देशभक्ति, मानवीय मूल्यों की रक्षा और स्वाभिमान एवं स्वतंता साहित्यकार के लिए कारक तत्त्व हैं । राजनीति का अध्याय तो स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् आया । केवल एक दशक तक ही उससे सम्पृक्त रहने के उपरान्त मैं उससे पृथक् हो गया क्योंकि मुझे दलबन्दी एवं गुटबन्दी का, जो अवांछनीय है, रूप दीखने लगा । राजनीति से मुक्त होकर मैंने स्वयं को राष्ट्रभाषा-आन्दोलन को अर्पित किया । दुखः है कि इसे संचालित करने की आवश्यकता आज भी बनी हुई है और न जाने कब तक बनी रहेगी ! भाषा साहित्य की जननी है अतः किसी साहित्यप्रेमी का भाषा की हितरक्षा से विमुख रहना कदापि समर्थनीय अथवा वांछनीय नहीं हो सकता । हाँ, यह भी अवांछनीय ही है कि साहित्य को दलसापेक्ष या वादसापेक्ष बनाया जाय । दलसापेक्षता से मुक्त रहते हुए साहित्य को सर्वतंत्र स्वतंत्र और स्वायत्त ही रहना चाहिए । साहित्यकार का भी यह स्वरूप ही स्तुत्य एवं बांछनीय हो सकता है ।

इस राजनीति-प्रधान तथा अर्थप्रधान युग में यह पथ सर्वथा हानिकर एवं कष्टपूर्ण ही हो सकता है । किन्तु कर्त्तव्यपालन तथा औचित्यरक्षा में कष्ट अथवा असुविधा के दृष्टिकोण का स्थान कहाँ ? यही कारण है कि अपनी अक्षमताओं तथा असुविधाओं के बावजूद मैंने बिहार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के बहुसंख्य प्रस्तावक सदस्यों की आज्ञा शिरोधार्य की और पुनः (२१ वर्षों के लम्बे अन्तराल के पश्चात् तीसरी बार) इस सम्मेलन के अध्यक्ष-पद का दुष्कर कार्यभार मैंने स्वीकार किया।

अपने समस्त कर्त्तव्यों के पालन का ध्यान रखते हुए, मैं क्रमशः लेखन भी करता ही जाता हूँ । संसार की और विशेषतः राष्ट्र एवं राष्ट्रभाषा की हरीतिमा एवं प्रकाश की वृद्धि हेतु निम्नलिखित पंक्तियाँ हाल में ही लिखीं—

नहीं फूल-फल दे, पर देता
हरियाली तो है,
दीप जलाने पर कुछ देता
उजियाली तो है ।

आवश्यक स्वच्छता, ज्योति, गति,
रहे प्रदूषण क्यों ?
सत्कर्मो के बल से वंचित
हो नर - जीवन क्यों ?

सतत दान ही सार्थक है,
सामान या कि सम्मान कहाँ ?
अविरत कर्म अपेक्षित है,
सार्थक है केवल ज्ञान कहाँ ?

मैं अभाव में, अक्षमता में
यथा - शक्ति देता जाता,
क्यों चिन्ता यदि जग से कोई
मूल्य नहीं है मिल पाता ?

कविता के सन्दर्भ में भी हाल में ये पंक्तियाँ लिखीं—

'धागे बढ़ रहे कताई से,
ऐसे सत्कर्मों के धागे;
क्रमशः कातते हुए बढ़ना,
सत्कर्म बढ़े क्रमशः आगे ।

यदि नहीं कताई होगी तो
धागा कैसे बढ़ पायेगा ?
यदि कण्ठ स्वरित ही करे नहीं
तो कोकिल कैसे गायेगा ?

सद्भाव - चयन करते पहले
तो कविता में जीवन भरते;

जैसे चिर श्वेत तूल से ही
हैं श्वेत वस्त्र निर्मित करते।
निर्मल भावों से हो सदैव
निर्मल कविता सम्भव होतो;
आनन्द हास देता प्राय;
आँखें विषाद में हैं रोती।

'सातत्य' शीर्षक रचना में हाल में निम्नलिखित पंक्तियाँ अंकित कीं—

क्या लेखन के भी लिए नहीं
कुछ मूल्य चुकाया जाता है?
यातना सहन करनी पड़ती,
अवसर ठुकराया जाता है।
जीवन का विष पीना पड़ता;
हाँ, तभी सुधाकण दे पाता;
रातें व्यतीत करनी पड़ती
निद्राविहीन तो छवि लाता।

आवश्यकताओं का तो कोई अन्त नहीं। परन्तु 'स्व' से परे भी हमारे कुछ कर्त्तव्य हैं। पंक्तियाँ निवेदित हैं—

जो भी व्यक्ति निकट रहते हैं
उनका ध्यान प्रथम आवश्यक;
पास भूमि जो भी रहती हो
उसका संरक्षण हो सम्यक्।
रहे मलिनता भला कहीं क्यों?
सतत स्वच्छ करते जाना है;

सुरभि, रंग, आन्तरिक स्नेह से
भव का घट भरते जाना है।
मरु में हरीतिमा भरनी है;
भरनी है जीवन में लाली;
अन्धकार - पीड़िता धरा को
देनी है उर की उजियाली।
निर्झर में वांछित प्रवाह है;
मानव को आनन्द चाहिए;
वसुन्धरा को महाप्राण, शुभ,
कालविजेता छन्द चाहिए।

कर्त्तव्य-पालन के सन्दर्भ में पंक्तियाँ लिखीं—

क्यों कर्त्तव्य रहेंगे लम्बित?
करते जाने हैं;
मरघट पर भी जीवन, यौवन,
प्राण जगाने हैं।
मृत्यु नियम है तो क्या?
सर्जन ही क्यों रुक जाये?
कोकिल पतझर पर वसन्त का
गीत न क्यों गाये?
अन्धकार चाहे जितना हो,
दीप जलायें तो;
तम को मिटना है, प्रकाश-
अभियान जगायें तो।

हैं पशुता, आतंक भले ही,
मानवता जागे;
मनुजोचित कर्त्तव्यों से
जोड़ें बिखरे धागे।'

और किसी भी स्थिति में हताशा क्यों?

'शिशिर जहाँ रहता, समीप ही
रहता मधुर वसन्त वहीं;
मैं वसन्त का गायक पिक हूँ;
पतझर से अभिभूत नहीं।'

मैं निराशा से भी कदापि अभिभूत नहीं होता। अतः मेरा यह नमन अन्तिम नहीं है। उसका अवसर आगे है।

अन्त में एक बार पुनः समस्त कृपालु सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए मैं न्यू साहनी प्रिंटिंग प्रेस के स्वत्वाधिकारी श्री रामबालक प्रसाद और उनके सहकर्मियों के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करना अपना पुनीत कर्त्तव्य मानता हूँ। वस्तुतः इस कृति के प्रकाशन में उक्त सभी व्यक्तियों के अमूल्य सहयोग से ही यह प्रकाशन सम्भव हो सका है। सभी को मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ समर्पित हैं।

रामदयाल पाण्डेय
'देवगीत', आशियाना नगर
पटना-८०००१४

सोमवार
दिनांक १५ जून, १९९२ ई०
कबीरपूर्णिमा, ज्येष्ठ, २०४९ वि०

'लोकायन'

(प्रयोगात्मक महाकाव्य)

१. सर्ग—१ : व्यष्टि

जग में आता है व्यष्टि, लिये
अपनी लघु काया में महत्त्व;
आता लेकर क्षिति, जल, समीर,
अम्बर, वैश्बानर पंचतत्त्व ।

क्षिति में रहती है सहिष्णुता,
उर्वरता, धारण, अमित शक्ति;
हो मातृभूमि या जन्मभूमि,
देती मान्व को शुद्ध भक्ति ।

हों मातृभक्त औ' पितृभक्त,
हो भक्ति अग्रजा-अग्रज प्रति;
जो गुरु होते अथवा वरीय;
है भक्तिभाव में निहित सुमति ।

होती अनुर्वरा भूमि नहीं;
उसमें अवश्य है उर्वरता;
चाहिए परिश्रम की प्रवृत्ति,
श्रम से मनुष्य सब कुछ करता ।

क्षिति पर्यावरण-दायिनी है;
देती हरीतिमा अन्न, सुमन;
सौरभ देती औ' विविध रंग;
विकसित करती जीवन-यौवन ।

करुणा-गभीरतापूर्ण वरुण;
है निहित उसीमें रत्नाकर,
मन्थन से अमृत - प्रदायी है;
जीवन है, देता जीवन भर ।

शाश्वत समीर है प्राणप्रद;
देता प्रवाह, विस्तार अमित;
वह चिर प्रकाश का सहयोगी;
करता वसुधा को प्राणान्वित ।

तरु को ही नहीं, मनुज को भी
देता रहता है झूम - झमक;
संगीत - नृत्य है भर देता
नर-नारी, भूतल, अम्बर तक ।

रज को नभ तक है ले जाता;
देता प्रसार, उत्थान विपुल;
श्वासों को करता शुद्ध-स्वच्छ;
सब कुछ को रखता गति-संकुल ।

क्षिति-सलिल-वायु की अमित शक्ति—
से बल पाते हैं व्योम - अनल;
जलकण ही तो अम्बर में जा,
बन जलधर, करते जलमय तल ।

है व्योम शून्यवत् लगता, पर
करता नक्षत्रों को धारण;
शशि श्याम रात्रि में निज प्रकाश;
भास्कर देता दिन - तेज - किरण।

चन्द्रिका - सुधा, द्युति, शीतलता,
है दिवा - निशा का शाश्वत क्रम;
ध्रुव देते रजनी - दिशाबोध;
करते सार्थक पथिकों का श्रम।

आदित्य सर्वदा ओजप्रद;
ऊर्जा वसुन्धरा को देता;
करता प्रदान ही रहता है;
आदान कदापि नहीं लेता।

क्या कहा जाय, कितना अकथ्य
है पंचतत्त्व का महादान !
व्यापक विकास, अनुपम प्रकाश—
का सम्भव है क्या कीर्त्तिगान ?

प्रत्येक निशा में सजता है
अम्बर में दीपोत्सव व्यापक;
लगता असीम दीपक - वितान;
उन्नत हो जाता है मस्तक।

है कहाँ दिवाकर की समता ?
समता है कहाँ सुधाकर की ?
क्या अन्य जीव हैं कर सकते
समता नारी की या नर की ?

वैश्वानर का महापुंज
सर्वत्र प्रभाकर विद्यमान;
पृथ्वी परिक्रमा करती है;
शशि भी पाता आलोकदान।

चिर महाकाव्यवत् लगते हैं
ये पंचतत्त्व संरक्षणीय;
अक्षुण्ण रहें तो है जीवन;
होते सदैव संवर्द्धनीय।

लगता है अनल महाघातक
जब अग्नि - काण्ड हो जाता है;
पर क्षुधा और पाचन का तो
इससे अभिन्न चिर नाता है।

हैं अणु - परमाणु सूक्ष्म लगते;
ब्रह्माण्ड किन्तु हैं कण - कण में;
इस हेतु सभी हैं रक्षणीय;
हैं रक्षणीय पशु भी वन में।

गृह के पशु भी हैं रक्षणीय;
सब कुछ अवध्य होता जग में;
ऊर्जा है जीवन की अपूर्व
कण-कण में, जन की रग-रग में।

प्रत्येक तत्त्व है महाकाव्य,
पर मुख्य तत्व है व्यष्टि यहाँ;
प्रतिभा-मेघा का महापुंज;
क्षमता का पूर्ण अभाव कहाँ?

कोई न उच्च या निम्न कहीं;
लघु नहीं या कि है विशालतर;
सब हैं समान क्षमता - पूरित;
सब हैं समानतामय सुन्दर।

सबके प्रयत्न, सत्कर्म सदा
कर सकते हैं सबको सुखकर;
सबमें अमरत्व निहित रहता;
सबके तन होते हैं नश्वर।

है निहित सृष्टि क्षमता सबमें;
सबके मिलने से है समष्टि;
सब हैं स्रष्टा, संवर्द्धक हैं—
हों वे समष्टि या रहें व्यष्टि।

हैं नहीं उपेक्षा योग्य कभी
चाहे समूह या रहें व्यक्ति;
चाहिए विश्व - सुविधा विकास;
सर्वत्र किन्तु हो अनासक्ति?

अनिकेत या कि सनिकेत रहे;
हों विपिन या कि हों नगर-ग्राम,
अपने सुकर्म - धन से मनुष्य
सर्वत्र बना रहता ललाम।

देने ललामता आया है;
अभिराम विश्व करने आया;
हो व्यक्ति भले लघु या विराट्,
चिर विश्व - कलश भरने आया।

स्वच्छता, सुरभि, उज्ज्वलता से
जग को दे सार्थकता विशेष;
जितना सम्भव हो, हरा करे
सारे जीवों के कलह - क्लेश।

चिर प्रेम - एकता से ही तो
होती मानव की सार्थकता;
क्या भला घृणा - विद्वेष - कलह
दे सकते नर को सुखमयता ?

ज्यों बीज विटप का मूल उत्स,
त्यों व्यक्ति उत्स मानवता का;
मानव - मानव में यह समता;
कारण फिर कौन विषमता का ?

हों व्यक्ति स्वस्थ, हों व्यक्ति सबल;
मानवता होगी स्वस्थ - सबल;
अन्यथा न क्या होगी अवश्य
सम्पूर्ण मनुजता ही निर्बल ?

ज्यों कण - कण का वांछित सिंचन,
चाहिए व्यक्ति को सम्पोषण;
चाहिए सुरक्षा - स्वास्थ्य सदा,
रह जाय न कोई अनिकेतन।

ये कुल साधन देते नर को
हैं जीवन की आधार - शिला;
ज्यों सूर्य रश्मि, जल, भूमि, खाद
ही मिलकर सकते सुमन खिला।

है लक्ष्य मात्र सभ्यता नहीं;
संस्कृति भी परमावश्यक है;
जैसे काया में प्राणतत्त्व,
सांस्कृतिक तत्त्व उन्नायक है।

संस्कृति - सम्पन्न मनुज ही तो
मनुजत्व - चेतना का रक्षक;
मानव - मूल्यों का अभिरक्षक;
औदात्त्य - वृत्ति का सम्पोषक।

द्युति में दीपक - अस्तित्वबोध;
संस्कृति में नर - अस्तित्वबोध;
वह घोर अमानवता का स्थल
है जहाँ कहीं संस्कृति - विरोध।

साहित्य, मूर्त्ति, संगीत - नृत्य,
हो चित्रकला या वास्तुकला;
अन्तःप्रकाश - रक्षिका सदा,
देतीं अमानुषिक ध्वान्त जला।

भावना, कल्पना, प्रकृति - रूप
को चित्रकला करती चित्रित;
मनुजाकृति भी चित्रित करती;
करती मानव को आप्यायित।

है कला कलित करती जीवन;
करती है संयत - मर्यादित;
नवता सदैव देती भव को;
छवि से करती सज्जित - सुरभित।

चाहिए व्यक्ति का परिमार्जन;
परिमार्जित हो जिससे समूह;
आती रहती है विकृति स्वतः;
रचती है अपना चक्र - व्यूह।

तनया संस्कृति की कला, सुछवि
देती रहती है भूतल को;
केवल शोभा ही नहीं मात्र;
बल भी देती हैं दुर्बल को।

हैं पुरुष और नारी दोनों
आते लेकर प्रज्ञा प्रभूत;
चाहिए कि दोनों वर्गों का
जीवन सदैव हो अनुस्यूत।

दोनों का सदा परस्पर है
आकर्षण, प्रेम, समपर्ण भी;
चिर स्वतंत्रता के बावजूद
चाहिए परस्पर बन्धन भी।

दोनों मिलकर ही हैं देते
जग को भावी पीढ़ी अपनी;
युग - युग से इस क्रम से ही तो
नूतन युग की है सृष्टि बनी।

आते हैं भव में नये व्यक्ति
लेकर अपना नूतन विधान;
आता वसन्त भी है नवीन;
आता कोकिल का नया गान।

हैं प्रणय और परिणय देते
आये वसुधा को रस नवीन;
इस भाँति सदा होते आये
हैं पुरुष और नारी प्रवीण।

दोनों की सक्रिय कर्म - शक्ति
देती मानव को नव विकास;
देते वसुन्धरा को नव बल—
नर - नारी के जाग्रत प्रयास।

चेतना चाहिए ही जाग्रत;
हैं व्यक्ति सदा बनते माध्यम;
क्या व्यक्ति कभी होते उपेक्ष्य ?
हैं क्षुद्र - तुच्छ यह तो है भ्रम।

व्यक्तित्व व्यक्ति का होता है,
चाहे नर हो अथवा नारी;
प्रज्वलित अनल को करने को
पर्याप्त सदा है चिनगारी।

सागर में है बड़वाग्नि भरी;
दावानल रहता मधुवन में;
है अग्नि प्रभा भरती नवीन
शाश्वत महार्घतम कंचन में।

नर - नारी में है प्रभा अमित;
उसका सम्मान अपेक्षित है;
क्यों वह शासित हो, जो सदैव
स्वेच्छा से ही अनुशासित है?

सिद्धान्त व्यक्ति ही रचते हैं;
प्रस्तुत करते निज उदाहरण;
आदर्श कहें या कर्म-रूप,
या उदाहरण, सब हैं साधन।

सत्साधन बनते साध्य स्वयं;
बन सकें साध्य ही यदि साधन,
तो सत्य - न्याय - पथ पर सदैव
होगा कर्मों का सम्पादन।

बन जायँ व्यक्ति सिद्धान्त - रूप,
सिद्धान्त - कर्म में क्यों अन्तर ?
होगी जनमंगल के पथ पर
जनगण की अविरत प्रगति प्रखर।

कण - कण से लेकर उर्वरता
है भूमि उर्वरा हो जाती;
जन - जन की ज्योतिर्मयता से
है धरा प्रकाश अमित पाती।

त्यों व्यक्ति - व्यक्ति व्यक्तित्ववान्
देता है शौर्य, तपोगरिमा;
देता धरणी को श्री - सुषमा;
बल - बुद्धि, अपरिमित - सी महिमा।

नर - नारी की सहयोग - शक्ति,
से सतत मेदिनी प्राणमयी;
जितना है गर्वोद्दीप्त मनुज,
उतना ही निरहंकार जयी।

विद्युत् के तारों के समान
दोनों का चिर सहयोग रहे;
हों सदा कर्मपथ - सहयात्री;
उद्देश्य न केवल भोग रहे।

है स्वाभिमान दोनों में ही;
दोनों का सम सम्मान रहे;
दोनों ने मिल - जुलकर ही तो
वसुधा के वज्राघात सहे।

दोनों में निहित व्यष्टि - महिमा;
दोनों से निर्मित विश्व अखिल;
दोनों की शुद्ध सरसता से
पृथ्वी पाती सौन्दर्य - सलिल।

सर्वदा व्यक्तियों का प्रयास
जग में आलोक जगाता है;
देता आया प्रज्ञा अपूर्व;
चिर मधुमय गान सुनाता है।

होते हैं गुणसम्पन्न व्यक्ति
तो सदा राष्ट्र आगे बढ़ता;
जैसे आरोहण - सक्षम ही
हिमगिरि के शिखरों पर चढ़ता।

मानवता का सम्मान रहे
तो मानवता बढ़ती आगे;
क्या मानव - मूल्यों का रक्षक
कोई विशेष सुविधा माँगे ?

सर्वदा त्याग में ही बल है;
वह नहीं स्वार्थ को सहता है;
जल वही सबल - निर्मल होता
जो चिर प्रवाहमय रहता है।

दो पग, दो कर, दो नयन सदृश
होते सदैव ही नारी - नर;
आनन्द अलौकिक होता है
जब दोनों हैं रहते मिलकर।

मानवता है उत्सर्ग - निहित;
सत्कर्म - निहित चिर प्रेम - निहित;
जयिनी मनुष्यता रहती है,
यदि चले मनुज इस पथ शंसित।

कोई मनु हो या इड़ा रहे,
या नहीं रहे, क्या अन्तर है?
पशुता पर विजय प्राप्त करता
अन्ततः मनुजता का स्वर है।

चाहे आदम या हौआ हो;
अथवा ऐडम या ईव रहे;
कालप्रवाह से कितने ही
युग - कल्प विनिर्मित हुए, ढहे।

स्वाभाविक था - संख्या बढ़ती;
वह बढ़ी और परिवार बने;
बन गये राष्ट्र, बन गया विश्व;
यों संस्कृति के आधार बने।

२. सर्ग—२ : परिवार

एक से जब अधिक जन, परिवार स्वाभाविक हुआ;
दायित्व कुछ नैतिक हुए, सम्भार कुछ लौकिक हुआ;
सन्तान भी होने लगी, कर्त्तव्य-संवर्द्धन हुआ;
फिर स्वास्थ्य-रक्षा भी हुई, सन्तान का शिक्षण हुआ।

सन्तान से ही तो नहीं परिवार हो जाता सुखद;
सम्यक् नहीं होता कभी, होता नहीं आनन्द-प्रद।
दाम्पत्य ज्यों उत्कृष्ट हो, सन्तान भी उन्नत बने;
वह सर्वदैव उदात्त हो तो शुद्ध निज भारत बने।

सन्तान चिर हो देशहित परिवारहित के संग ही;
ज्यों वस्त्र सबल-सुचारु हो, देखा न जाये रंग ही।
अक्षुण्ण नैतिकता रहे चिर सद्विचारों से सबल;
आचार और विचार उनके सर्वदा ही हों अमल।

कर्त्तव्य का, दायित्व का सुविकास होना चाहिए;
चिर गर्व-गौरवमय मनुज-इतिहास होना चाहिए।
बढ़ता सदा मनुजत्व है शुचि व्यक्ति से, व्यवहार से;
मिलता कहाँ आलोक है अति ध्वान्तमय परिवार से ?

जिनके गलित आचार और विचार होते हैं कभी;
वे पतित निश्चय ही किसी पल नष्ट होते हैं सभी।
हों व्यक्ति या परिवार, सबके पन्थ समुचित हों सदा;
यदि अन्यथा हों, लाभ मिल सकता नितान्त यदा-कदा।

ज्यों आम्र हो जाता कदाचित् प्राप्त पास बबूल के,
त्यों स्वच्छता रहती भला क्या पास उड़ती धूल के ?
परिवार सुख पाते सदा सत्कर्म से, सुविचार से;
क्या स्वास्थ्य होता है सुलभ दूषित-गलित आहार से ?

ज्यों शुद्ध अखिल विभक्तियाँ, सम्यक् निखिल उपसर्ग हों;
व्याकरण-सम्मत ही सदा संयुक्त बिन्दु - विसर्ग हों;
त्यों सर्वदा परिवार और सदस्य उसके हों उचित;
यदि अन्यथा हों, क्या नहीं निज राष्ट्र भी होगा व्यथित ?

आधार ज्यों अनिवार्य होता भूमि का तरु के लिए,
सिंचन सदा ज्यों चाहिए होना सुलभ मरु के लिए;
त्यों व्यक्ति का, परिवार का उत्थान होना चाहिए;
सत्कर्म-पथ से ही निखिल निर्माण होना चाहिए।

तो व्यक्ति से आगे बढ़ी, सीमा बनी परिवार की;
यदि स्वच्छता ही हो नहीं, क्या कल्पना शृंगार की ?
यों पूर्ण स्वाभाविक प्रदूषण है, निवारित हम करें;
चिर स्वच्छ पर्यावरण से परिदृश्य हम अपना भरें।

परिवार के हित चाहिए ही व्यक्ति-हित का त्याग भी;
हो सन्तुलित-संयत सदा परिवार का अनुराग भी।
परिवार से आगे बनी सीमा बृहत् समुदाय की;
सब हों सुखी, नीरोग हों, चिन्ता रहे समवाय की।

परिवार निज गृह तक नहीं, प्रतिवेश भी परिवार है;
यह चेतना विकसित हुई; बन्धुत्वमय संसार है।
क्रमशः हुई विकसित परम औदार्य की संचेतना;
वर्द्धित हुई क्रमशः अखिल आत्मीयता की भावना।

संस्कार भी निर्मित हुए, जो सर्वथा अनिवार्य हैं;
आलोक में उनके सभी होने लगे सत्कार्य हैं।
परिवेश और पड़ोस की संकल्पना आगे बढ़ी;
परिवार की लतिका वृहत् - विस्तृत हुई, ऊपर चढ़ी; ।

ज्यों जलकणों से ही महाविस्तार-पारावार है,
अगणित रगों से बन सका नर - देह का विस्तार है,
जन-जन विनिर्मित हैं अखिल परिवार भी, संसार भी;
सब सन्तुलित-संयत बनें, पावन रहें उद्गार भी।

जीवन अखिल उत्सर्गमय, जैसे निखिल हैं व्योम-घन;
उत्सर्ग में ही निहित रहता है सदा ही बाँकपन।
सब हों समर्पित यदि सदा मनुजत्व के प्रति पूर्णतः,
होंगे सुखद इतिहास और विकास नर के अन्ततः।

× × ×

मनुज यों ही बढ़ नहीं पाया यहाँ तक अनवरत;
चिर समर्पित और चिर सत्कर्मरत होकर बढ़ा;
मात्र सन्तति-जन्म से सुख-शान्ति क्या सम्भव कभी ?
सतत संयम - सन्तुलन् में नर सदा ऊपर चढ़ा।

क्या भला परिवार के आकार-धन उपलब्धि है ?
चाहिए संस्कार उन्नत, कर्म भी उन्नत रहें;
चल सकें नर सर्वदा सांस्कृतिक दीपक-ज्योति ले;
लोभ अथवा स्वार्थ से ऊपर सदा व्रत-रत रहें।

कीर्त्तिमय परिवार होगा तो रहेगा प्राणमय;
बढ़ सके वह ततत उन्नत कर्ममय अभियान में;
स्वर्ण-अक्षर-योग्य हो इतिहास तो इतिहास है;
क्या तमिस्रा - मलिनता वांछित किसी निर्माण में ?

कर्म हों प्रोज्ज्वल, अमल, संस्कारमय ही सर्वदा;
सतत संस्कृति - सुरभि - सबलित कर्म की हो मालिका;
क्या विभव - परिमाण से जीवन कभी सार्थक हुआ ?
क्या भला सन्तोष देती प्राप्तियों की तालिका ?

अवयव सदृश परिवार के कुल व्यक्ति हैं;
काम्य है, प्रत्येक जन परिवार को उन्नत करे;
चाहिए चारित्र्य सम्यक् और नैतिक बल सदा;
पारिवारिक प्रेम भी सबको सदा संयत करे।

दें नहीं सम्पत्ति - सन्तति ही, समुज्ज्वल ज्ञान दें;
सन्तुलित परिवार पूरा सतत अनुशासित रहे;
शक्ति भर अवदान अपने कर्म से अर्पित करे;
आचरण - आलोक से चिर काल आलोकित रहे।

व्यक्तिगत परिवार से आगे बड़ा परिवार है;
क्या नहीं परिवार को उसका सदा ही ध्यान हो?
हो सदा पारस्परिक अवदान की ही भावना;
जो बृहत्तर है, सदा उसका सबल निर्माण हो।

मनुजता सबमें रहे, हो न्याय भी, ईमान भी;
सर्वदा आदान से बढ़कर स्वकीय प्रदान हो;
मूल है यदि व्यक्ति तो शाखा - प्रशाखा हैं सभी;
कण्ठ क्या, स्वर क्या, नहीं यदि गान हो?

यों ही न चला परिवार कभी;
दाम्पत्य भी नहीं चल पाया;
चिर पारस्परिक त्याग द्वारा
धीरे - धीरे बढ़ता आया।

हाँ, सौमनस्य - बल भी लेकर,
ले सामंजस्य-समन्वय भी,
ले सहिष्णुता - सहयोग - वृत्ति
करता आया निज को लय भी।

व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठ,
आग्रह का करता परित्याग,
चिर ऐक्य - भावना की द्युति से
रक्षित करता परकीय भाग।

सबका अस्तित्व हुआ रक्षित;
रहते आये सब कर्म - निरत;
अधिकारों से कर्त्तव्य बड़ा
मानते हुए, रहकर संयत।

आये कितने संघर्ष, किन्तु
सहयोग - शक्ति से मिली विजय;
इस भाँति अभावों में भी रह
है रहा मनुज हर्षित, दुर्जय।

चिर सुमति - मार्ग पर ही चल कर,
कन्धे से कन्धा किये एक,
बल पाता ही मानव आया;
जागता रहा चिर सद्विवेक।

मानवता इससे ही रक्षित;
पशु - वृत्ति भला क्या मनुष्यता ?
निज तन की ही चिन्ता में रत
हैं जन्तु झेलते परवशता।

रखते मनुष्य हैं व्यापकता,
इस कारण वे उच्चतर जीव;
चलते हैं सबको लिये साथ;
इसमें पाते हैं सुख अतीव।

करता आया है कर्म - योग
तो मनुज पा सका है गौरव;
केवल शरीर - पालन से ही
क्या वास्तव में होता मानव ?

केवल तन, मन या धन में क्या ?
कृषिकर्म - निहित है सदा अन्न;
जो नर निष्क्रिय - निरुपाय निपट,
उसको रहना ही है विपन्न।

जीवन क्या है आलस्य - निहित ?
रहता सदैव कर्मठता में;
श्रम करता है यदि नहीं मनुज;
रहता है घोर विवशता में।

कर्त्तव्य - निहित, श्रमसाध्य सतत,
जीवन क्या है कोलाहल में ?
मरु में भी हैं कृषि - कर्म कृषक
करते, करते हैं दलदल में।

परिवार कठिन दायित्व सदा;
शोषण से कभी नहीं चलता;
प्रति पल तिल - तिल श्रम देने से
ही जीवन का दीपक जलता।

तिल - तिल, कण - कण के संचय से
हो जाता है व्यापक वैभव,
जैसे सरिताओं के जल से
भरता रहता विस्तृत अर्णव।

वह बन जाता है रत्नाकर;
रत्नों का दान किया करता;
सुख-पात्र सदा ही मनुजों का
केवल प्रदान से ही भरता

है लक्ष्य मात्र परिवार नहीं;
ज्यों नहीं व्यक्ति भी है होता;
वह कृषक अन्न क्या पायेगा
जो बीज नहीं सम्यक् बोता ?

सांस्कृतिक साधना हुई, और
होनी नितान्त आवश्यक थी;
संस्कारों की मिल गई ज्योति;
परिवार - प्रगति यों सार्थक थी।

संस्कारों से जो थे वंचित,
वे काम्य हुए परिवार नहीं;
जैसे संस्कृति - संवलित न हों
तो हैं सार्थक उद्गार नहीं।

परिवार स्वतः बनते न कभी;
उनको तो व्यक्ति बनाते हैं;
जितने सदस्य रहते उसमें,
कर्मठ हो उसे चलाते हैं।

वांछित है सबका कर्मयोग;
आवश्यक सबकी त्याग - वृत्ति
निष्क्रिय होकर पायें साधन,
ऐसी न किसी की हो प्रवृत्ति।

इस पथ पर ही चलकर सदैव
परिवार - विटप वढ़ता आया;
उत्सर्ग - वृत्ति करता विकसित
गति - शिखरों पर है चढ़ पाया।

सातत्य प्रयत्नों का वांछित;
इस भाँति करे नर सत्प्रयास;
होगी न प्रगति अवरुद्ध कभी;
होगा प्रकाश का भी विकास।

संख्या में होती शक्ति नहीं;
वह तो गुणवत्ता में होती;
स्वाती - जल की गुणवत्ता से
बनता है सीपी में मोती।

क्या स्वार्थ - भाव से नरता का
उत्थान कभी हो सकता है?
कर सकता क्या उत्पन्न अन्न
जो बीज नहीं बो सकता है?

सिद्धान्त नहीं यदि जी पाये,
तो जीवन भी क्या जीवन है?
कर्मठता यदि करता न सतत,
तो व्यर्थ नहीं क्या यौवन है?

प्रत्येक व्यक्ति कर्मठ होता,
कर्मठ बनता परिवार तभी;
बाधा - कुण्ठा से भरा स्वतः,
नर अकर्मण्य हो गया जभी।

उत्साह - शक्ति से चलना है;
साहस - प्रयोग से बढ़ना है;
रण - भूमि स्वयं अभ्यास - केन्द्र;
योद्धा को निर्भय लड़ना है।

कापुरुष बना परिवार जहाँ,
अवरुद्ध वहाँ हो गई प्रगति;
देता न सुकृति में यथाशक्ति
तो सम्भव होती नहीं सुमति।

हो व्यक्ति या कि परिवार, सदा
देनेवाला ही पाता है;
श्रम या साधन देकर ही तो
परिवर्तन में कुछ आता है।

देखना - सोचना नहीं कि किस
जन से किस जन का नाता है,
जब सभी आत्मनिर्भर वयस्क
तब जीवन - कोकिल गाता है।

यों ही समाज या राष्ट्र हेतु
भी जन को देना पड़ता है;
जो नर देता है नहीं, सतत
गिरता, मिट्टी में गड़ता है।

रहता प्रदान है जहाँ, वहीं
रहता आदान और बढ़ता;
देकर शरीर की शक्ति निखिल
मानव हिमशिखरों पर चढ़ता।

३. सर्ग—३ : समाज

बन गये परिवार कतिपय तो समाज हुआ गठित;
व्यक्ति सामाजिक न हो तो व्यर्थ पद-सम्पत्ति-राज;
यदि न सामाजिक रहा तो मनुज की संज्ञा कहाँ ?
सदय ही हैं काम्य होते, काम्य क्या हैं क्रूर बाज ?

व्यक्तियों के योग से, सहयोग से परिवार है;
त्यों सदा परिवार-गण से ही समाज यथार्थ है;
यदि नहीं सहयोग हो तो शक्ति क्या रहती कहीं ?
चिर समाजों के लिए आधारवत् परमार्थ है।

नियम बनते ही गये, नव नीतियाँ बनती गईं;
किन्तु चिर सिद्धान्त है मनुजत्व का रक्षक रहा;
मनुजता-मण्डित नहीं क्या सर्वदैव समाज हो ?
कर्म ही होता निकष, चाहे किसी ने कुछ कहा।

शक्ति रखती क्या नहीं है चिर समग्र सहिष्णुता ?
सर्वदा मानव बढ़े हैं क्या न सह-अस्तित्व से ?
विनय-बल की ही विजय होती नहीं क्या है सदा ?
व्यक्ति उन्नत ही बढ़ाते लोक को व्यक्तित्व से।

यदि नहीं निष्ठा रहेगी तो बढ़ेगा किस तरह ?
कर्म करता ही रहा है, कर्म जीवन-सार है;
था नहीं वर्गीकरण, जो ऐक्य का आधार है;
रत्न वर्गीकरण में रखता सुपारावार है।

क्या नहीं पार्थक्य का अस्तित्व हिलना चाहिए ?
सर्वदा सद्भाव करता ऐक्य का अभिषेक है;
ढूँढ़ता था सूत्र, जिसमें हो निबद्ध अनेकता;
सबलता रहती वहीं, रहते जहाँ सब एक हैं।

कर्म वर्गीकृत सदा होते, सुलभ हों नाम जब;
नाम क्रमशः बन गये तो वर्ग भी सम्भव हुए;
भिन्न होकर भी सभी क्या एक हो पाते नहीं ?
कर्म-माध्यम से नरों को प्राप्त कुल गौरव हुए।

कृषक और श्रमिक बने, कुछ व्यक्ति व्यवसायी बने;
पूर्व से ही कार्यरत थे, किन्तु संज्ञाएँ नईं;
क्या भला छोटे-बड़े का भेद था उनमें कभी ?
वर्ग-माध्यम से नहीं क्या एकता भी हो गई।

वर्गजन-दायित्व क्रमशः पूर्ण निर्धारित हुए;
नागरिक दायित्व सबके ही विभाजित हो गये;
थे कहाँ अधिकार अधिकाधिक मनुजगण चाहते ?
थे हुए कर्त्तव्य निर्धारित अधिकतम नित नये।

ध्यान था, सहयोग अधिकाधिक रहे चिर कर्म में;
व्यक्ति सामाजिक रहें कुल, चाहिए ही चेतना;
क्या नहीं सद्भावना की ज्योति चिर सबमें रहे ?
क्यों भला हो तिमिर की उत्पादिका दुर्भावना ?

कर मिले कर से, चरण से भी चरण मिलकर चले;
स्कन्ध मिलकर स्कन्ध से हैं भार का करते वहन;
बाँटकर भोजन लगे करने परस्पर जब सभी;
हो गये सब पुष्ट, सब रचने लगे सबके सदन।

स्वार्थपरता यदि रहे, बढ़ता समाज कदापि क्या ?
निहित सामाजिक प्रगति औदार्य के विस्तार में;
क्या न स्वेच्छा-संवरण हो ? लोभ का भी संवरण ?
क्या भला नरता निहित पशुवत् विचाराचार में ?

क्या न सभ्य समाज बनता सभ्य-सौम्याचार से ?
स्वस्थ बनता सर्वदा है प्रीतिमय उपचार से,
हो सकी इस भाँति सामाजिक प्रगति है सर्वदा;
पूर्ण संस्कृति-ज्योति मिलनी चाहिए व्यवहार से।

मनुज सामाजिक न हो तो है भला गरिमा कहाँ ?
अतः सामाजिक बना है नर सदा निज कर्म से;
यदि न हो शालीनता तो क्या भला महिमा रही ?
सर्वदा समुदाय बनता आ रहा इस मर्म से।

मनुज बढ़ सकता सतत इस ज्योति से;
पूर्ण सामाजिक प्रगति के पन्थ पर;
यदि हटे पीछे, गिरेगा गर्त में;
हो भले ही ग्राम अथवा हो नगर।

मात्र संख्या बल नहीं है, प्राण है;
लक्ष्य नर का चिर प्रबुद्ध समाज है;
बुद्धिजीवी हो कि श्रमजीवी रहे;
क्या नहीं गिरिपुंजमय नगराज है ?

हो नहीं वपु मात्र, हो नर-चेतना;
पूर्ण सामाजिक सदा मनुजत्व हो;
चेतनामय कर्म की उद्‍भूति हो;
हो सदा चरितार्थ उन्नत कल्पना।

क्या न मनुज-समाज उन्नत चाहिए ?
क्या नहीं वह सर्वदैव उदात्त हो ?
ध्येय उसका सर्वदा आलोक हो;
कुल मलिनताएँ-विकार समाप्त हों।

मानवों में भी प्रदूषण आ गया;
स्वच्छ करने को उन्हें अभियान हो;
हों सुशिक्षित सब, सदाचारी सदा;
क्या न ऐसा मान्य एक विधान हो ?

मनुज से बढ़ कर भला क्या वस्तु है ?
मात्र संख्याबल नहीं अविजेय है;
अन्ततः विजयी सदा मनुजत्व है;
ज्यों सदा है गीत वह जो गेय है।

प्रेय के हित अन्ध हो क्या दौड़ना ?
संग उसके काम्य होता श्रेय है;
भ्रान्त यायावर बने मानव नहीं;
पन्थ सामाजिक सदा ही ध्येय है।

बढ़ चली तो सतत बढ़ती ही रहे—
मनुजता आलोकमय इस पन्थ पर;
क्यों भला आलस्य में सोता रहे।
लक्ष्य हो अभियानियों का उच्चतर।

जागरण देता सदैव समाज को—
जागरणमय मार्ग पर मानव बढ़े;
मनुजता की ज्योति दे, चिर दे सुरभि;
सतत विद्युत्गति लिये ऊपर चढ़े।

अनवरत ही विश्व-पथ ज्योतित रहे;
वायुमण्डल सृष्टि का सुरभित रहे;
क्यों प्रदूषण हो कहीं भी ? तिमिर क्यों ?
सर्वदैव समाज कुल पुलकित रहे।

व्यक्ति निज उत्कर्ष से उत्कर्ष दे;
दे सदा निज कर्म से उत्कर्ष-बल;
क्यों कहीं पथ हो विषम ? व्यवधान क्यों ?
चिर अबाधित गति रहे, बल हों सकल।

सौम्य-निर्मल मनुजता ही चाहिए;
मलिनतामय क्यों कदापि समाज हो ?
प्रीतिमय, सहयोगमय जीवन रहे;
अभयतामय हो, यथा मृगराज हो।

व्यक्तियों की विमलता चिर काल हो;
है समाजों की विमलता सन्निहित;
स्वच्छ यदि न समाज हो तो कष्ट है;
सर्वदैव अभिन्नता हो, यह विदित।

बिन्दु से पाता मलिनता सिन्धु है;
स्वच्छता भी प्राप्त करता इस तरह;
रश्मियों में ज्योति यदि होगी नहीं;
ला सकेंगी क्या कभी हँसती सुबह ?

रात्रि के पश्चात् दिन यदि चाहिए,
दिवस भर तो अंशुमाली हो विमल;
स्वच्छता यदि हो मयूखों में नहीं,
क्या भला प्रत्यूष हो सकता धवल ?

यदि नहीं हो चन्द्रिकामय चन्द्रमा,
तो भला रजनी कहाँ शुक्लाम्बरा ?
रजकणों का पूर्ण यदि सिंचन रहे।
सर्वदा पृथ्वी बनेगी उर्वरा।

बढ़ सका समुदाय सबको बुद्धि से;
और सबका प्राप्त कर अनवरत श्रम;
सर्वदैव समाज की यदि हो प्रगति;
सब सुखी होंगे, तनिक इसमें न भ्रम।

मानवों में यदि विवेक सदा रहे,
क्या समाज कभी रहेगा दुःखमय ?
श्रमिक हों सब, बुद्धिजीवी ही नहीं;
जनसमाज समृद्ध होगा, चिर अभय।

प्रगति पाता आ रहा समुदाय यों;
व्यक्ति भी होते समुन्नत आ रहे;
चल सका मनुजत्व है गतिमान यों;
गीत मानव शान्ति के हैं गा रहे।

विधि-व्यवस्था की निहित अक्षुण्णता—
सर्वदा इस भाँति के समवाय में;
सतत सहजीवन रहे अक्षुण्ण, यदि —
व्यक्ति और समाज रत हों न्याय में।

सर्वदा पर्यावरण अक्षुण्ण हो;
स्वच्छता सर्वत्र ही संव्याप्त हो;
क्यों कदाचारी-दुराचारी बनें ?
क्यों अधोगति को सुनरता प्राप्त हो ?

मनुजता-आभा रहे सर्वत्र ही;
सर्वदा हों शब्द पावन, श्लील हों;
भूमि तो हो उर्वरा, हरिताम्बरा;
सिन्धु-नभ चाहे सदैव सुनील हों ।

चिर वसन्तों की हँसी हो विपिन में;
तरुवरों से पूर्ण कुल मधुवन रहें;
हों सुरक्षित सर्वदा वनजन्तु भी;
पक्षियों का भी अभय जीवन रहे ।

बैमनस्य-घृणा भला क्यों हों कभी ?
मनुजगण तो हैं सदैव समान ही;
मुक्त हों विद्वेष-भ्रष्टाचार से;
ध्वनित होंगे तब सदा मधुगान ही ।

४. सर्ग—४ : जात्युपजाति

जो जनगण - वर्गीकरण - निहित
था मनुज - एकता का प्रयास,
क्रमशः आईं जातियाँ, हुआ
उपजातिगणों का भी विकास ।

कर्मों की हुई प्रशाखाएँ;
जातियाँ नाम पा गईं अमित;
फिर जाति-विभाजन के क्रम में—
उपजाति - प्रणाली हुई सृजित ।

उपजाति - जातियों की संख्या
क्रमशः बढ़कर अब है अगणित,
जो वर्ण - व्यवस्था के प्रभात—
में रही चार तक ही सीमित।

बढ़तीं बुराइयाँ तो उनको
क्या कभी घटाना सुगम - सरल ?
क्या अमृत बना सकते उसको
जो हो जाता है महागरल ?

विज्ञान स्थूल को सूक्ष्म और
कर दे सकता है उसे तरल;
हो जाती जीर्ण व्यवस्था तो,
है बहुत कठिन कर सकें नवल।

तारुण्य चला यदि जाता है
तो क्या होता प्रत्यावर्तित ?
दुर्बलता यदि बढ़ती जाती
तो हो जाती अतिशय सबलित।

यदि मूल बहुत नीचे जाता,
क्या सरल - सुगम है उन्मूलन ?
यदि मृत हो जाता है शरीर,
सम्भव क्या है देना जीवन ?

चाहिए जाति - उपजाति कहाँ ?
आवश्यक है एकत्व - भाव;
चिर जाति - पाँति के भेदों से
बड़ता ही जाता है दुराव।

समता का भाव तभी होगा
जब जाति - पाँति का भेद न हो;
हो आरक्षण ऐसा जिससे
उत्पन्न कहीं भी खेद न हो।

क्या कभी अरक्षित हो कोई ?
चिर जन - जन का संरक्षण हो;
मेघों का स्वागत पूर्ण तभी,
सारे खेतों में वर्षण हो।

था वर्णभेद, फिर जातिभेद;
उपजाति - भेद क्रमशः आया;
उस समय लाभ था, अतः मनुज—
ने लाभ प्रथम उससे पाया।

जो आज लाभदायक होता,
कल वही हानिकर बन जाता;
निज रूढ़िवादिता के कारण
मानव है दुख उससे पाता।

क्या रूढ़िवाद है भला कभी?
वह चिर क्षतिकारक होता है;
देता बबूल क्या है रसाल
यदि नर बबूल ही बोता है?

जन को यदि आगे बढ़ना है
तो रूढ़िवाद से मुक्त रहे;
उसका मन जनगण से शाश्वत
एकत्वपूर्ण, संयुक्त रहे।

जो बिन्दु प्राप्त होते, उनको
विस्तृत कर सिन्धु बनाना है;
चाहिए वितति ही जीवन को;
लहरों को मिलकर गाना है।

मिल सकें कण्ठ से कण्ठ और
गति में चरणों से मिलें चरण;
हृदयों में चिर एकत्व रहे;
कर सकें सभी यह भाव वरण।

इसमें क्या है सन्देह कि नर
एकत्व - भाव से बढ़ता है?
कन्धे से कन्धे मिला मनुज
आगे बढ़ गिरि पर चढ़ता है।

समता ही देती प्रगति सदा;
बाधिका सदैव विषमता है;
बाधाओं से गतिशील पथिक
लक्ष्यों से पहले थमता है।

मानव कैसे बढ़ सकते हैं
बाधामय बाड़ लगाने से ?
संगीत कहाँ सम्भव होता
है विषम स्वरों में गाने से ?

हाँ, जाति और उपजाति सदा
पार्थक्यवाद के कारण हैं;
यदि सैनिक इसमें हों निमग्न,
क्या कर पाते सम्यक् रण हैं ?

हैं जाति - पाँति क्या नहीं वितथ ?
होता इस पथ में तथ्य कहाँ ?
मानवता का पथ है वह पथ,
रहता समत्व का भाव जहाँ ।

इस रूढ़िवादिता से आगे
बढ़कर मानव अँगड़ाई ले;
जर्जर जड़ता से आगे बढ़,
चेतनाजन्य तरुणाई ले ।

क्यों विरुदावली जातियों की ?
हो सदा एकता - समता की;
बढ़ती ही जाती जाति - पाँति—
से डोरी सदा विषमता की ।

चिर भेद भाव से, पक्षपात —
से साहस है घटता जाता;
घटता जाता योग्यताप्राप्ति—
से नर का आवश्यक नाता ।

विस्तार क्षितिज का करना है,
देखना दूर तक है आगे;
एकता और समता के हैं
जोड़ने सदा सुखमय धागे ।

बढ़ता यदि भेदक पक्षपात
तो वैमनस्य भी बढ़ता है;
सर्वदा आत्मबल - स्वाभिमान
से नर उन्नति - गिरि चढ़ता है ।

शिशुगण खेलते घरौंदे से,
पल भर में उन्हें बनाते हैं;
क्रीड़ान्त - काल आते उनका
अस्तित्व भूल वे जाते हैं।

रखना भविष्य की आस कहाँ ?
जो करना हो वह करें त्वरित;
क्षण भर का भी होता विलम्ब
तो हो जाता है विश्व - अहित।

यौवन हो या वृद्धावस्था,
जन को रहना है कर्म - निरत;
आवश्यक परिवर्त्तन करना
भी कर्म - अंश, क्यों रहें विरत

हैं जाति - पाँति नामांश मात्र;
इनको भूलना असम्भव क्या ?
एकात्म - भाव से यदि न रहें,
तो रह जाता है गौरव क्या ?

अत्यन्त सूक्ष्मवत् हों चाहे
ये जाति - पाँति के भेदभाव,
उत्पन्न किया ही करते हैं
चिर मानव - मानव में दुराव।

अत्यन्त सूक्ष्म ही रहते हैं
जीवन के सारे मूल तत्त्व;
पल सूक्ष्म भले होते, उनका
युग - कल्प सदृश शाश्वत महत्त्व।

चिर अणु - परमाणु - निहित रहते
हैं विश्व और ब्रह्माण्ड अखिल;
क्षण में रहते युग - कल्प सकल;
जलकण में ज्यों सम्पूर्ण सलिल।

पंखुड़ियों में हैं पुष्प निहित,
बीजों में रहते हैं तरुवर;
रहता विभेद - कण में भी चिर
मानव - विनाश का है सागर।

रहता अगाध अम्बुधि, परन्तु
सूक्ष्मातिसूक्ष्म बड़वानल है;
उसकी प्रचण्डता से ज्वाला—
मय होता कुल सागर - जल है।

क्या वांछित संकीर्णता - भाव ?
वह सूक्ष्म किन्तु अतिशय घातक;
चाहिए नहीं क्या परित्याग ?
क्या घातकता होती सार्थक ?

जोवन सदैव हो सरल - तरल;
वह क्यों कदापि हो जातिजटिल ?
आकांक्षित है जल में प्रवाह;
हाँ, तभी नहीं होगा पंकिल।

जीवन प्रवाहमय हो शाश्वत;
जैसे निर्मल जल की धारा;
कर दे समाज को बन्दी क्यों
चिर जाति - पाँति की जड़ कारा ?

क्यों जाति - पाँति आधार बना—
कर बढ़े लूटने की प्रवृत्ति ?
मधुजा का मधुप बने नर क्यों ?
है सहज सुलभ लिप्सा - निवृत्ति।

जग में जो आया है मानव—
उसका आना तो सार्थक है;
चाहिए सभी को अन्न - वस्त्र;
क्या विलासिता आवश्यक है ?

आवश्यक है क्या धन - संचय ?
आवास अपेक्षित औ' शिक्षा,
मिल सके चिकित्सा आवश्यक;
माँगनी पड़े न कभी भिक्षा।

योग्यता सभी यों प्राप्त करें,
हो नहीं जाति - बल आवश्यक;
सब करें प्राप्त समुचित जीवन;
सेवा दे सकें पूर्ण सम्यक्।

रखते विशेषता जो कोई—
वे अपनी विशेषता दे दें;
जो जन - समाज को दे विकास,
ऐसी अपनी क्षमता दे दें।

कामना अल्प लेने की हो;
देने की सदा अधिकतम हो;
दे सकें राष्ट्र को अधिकाधिक,
इस हेतु अधिकतम निज श्रम हो।

क्या जाति - पाँति की कथावस्तु ?
यह तो पड़ाव भर जनपथ पर;
क्यों इस पड़ाव पर रुक जायें ?
क्यों हो जन का कटुतामय स्वर ?

गति के हों उच्चात्युच्च लक्ष्य;
अभिनव वसन्त - श्री लानी है;
पिछले पड़ाव पर अड़ जायें,
क्या भला नहीं नादानी है ?

निज विपुल विभव में क्या रहता ?
अवदान विश्व को दें अपना;
कुछ तो विकास वह दें, जिसका
देखता युगों से जग सपना।

नहले गिरिमण्डल पर दहला
हिमवान खड़ा ज्यों भूतल पर:
श्रम - बुद्धि - आचरण से अपने
उच्चता दे सके जग को नर।

क्या रेखा बड़ी मिटाने से
छोटी रेखा बढ़ जाती है ?
क्या कोई दुर्बल गति गिरि के
उच्चतम शिखर चढ़ पाती है ?

हो सबल चरण, हो सबल बुद्धि,
आचरण सबल, उन्नत मन हो,
चाहिए सतत ऐसा प्रयास,
ऐसा सदैव आयोजन हो।

निर्माण अपेक्षित भारत का;
हो लूट किसी का ध्येय नहीं;
योग्यता और गुणवत्ता की
हो वृद्धि सतत, हो प्रेय यही।

कर्मठता ही हो लक्ष्य सदा;
हो चिर कर्त्तव्यपरायणता;
हो ध्यान, परिस्थिति में कैसी
रहती है भारत की जनता।

शिशु रहें घरोंदों में ही यदि,
कितनी दूरी तक जायेंगे ?
यदि विहग नीड़ छोड़ें न कभी;
क्या अम्बर में उड़ पायेंगे ?

सब हों सम अवसर - आकांक्षी—
तो सभी बनेंगे योग्य - शुद्ध;
क्या नहीं यही आवश्यक है—
सब जन हों प्रज्ञामय - प्रबुद्ध ?

संस्कार समुन्नत रहने पर
चिर जनमंगल सम्भव होगा;
क्या नहीं मानवों का सदैव
शुचि मानवत्व गौरव होगा ?

क्या ईर्ष्या - द्वेष कभी करते
कल्याण किसी भी मानव का ?
उत्थान मनुजता का वांछित;
नर क्यों पिशाच हो वैभव का ?

अभ्युदय योग्यता का क्रमशः
हो, यही अभीप्सित है सदैव;
जैसा कर्त्तव्यार्पण होगा
अधिकार मिलेंगे ही तथैव।

हो सदा मानसिकता उन्नत,
है प्रतियोगिता महाव्यापक;
हो विशेषज्ञता की उन्नति;
कुछ भी न रहेगा गति - बाधक।

बढ़ सकते सभी मनुज आगे,
जातियाँ नहीं आगे बढ़तीं;
रखतीं चढ़ने की शक्ति न यदि,
क्या लतिकाएँ ऊपर चढ़तीं ?

जो अंग रहेंगे शिथिल - अबल—
उनकी क्षमता कम होगी ही;
जिनमें प्रवृत्ति रोदन की हो—
वे आँखें तो नम होंगी ही।

रोदन - कोलाहल में क्या है ?
आवश्यक है समुचित उद्यम;
यों ही प्रकाश पाता विकास,
क्या भला नहीं है यह दिग्भ्रम ?

सब दें प्रकाश - अवदान सदा,
इस हेतु राष्ट्र उत्कण्ठित है;
'जैसी करनी वैसी भरनी,'
यह सत्य सदा रूपायित है।

क्या रुकता किरणों का प्रकाश ?
क्या गति रुकती सावन - घन की ?
बांछित है झंझावात कहाँ ?
क्या विभा रुकी चपला - तन की ?

क्या गति रुकती मानव - मन की ?
सकल्प अपेक्षित सदा सबल;
क्या कभी कीच - कर्दम से भी
कुण्ठित हो जाता है शतदल ?

जातियाँ नहीं थीं बुरी, न हैं;
पर जातीयता बुरी होती;
पड़ इसके दुष्प्रभाव में है
मानवता व्यथामयी रोती।

यह गरल कहाँ तक जा पहुँचा ?
कार्यालय में, न्यायालय में;
जो मान्य विश्वबन्धुत्व - उत्स
उस तुंग विश्वविद्यालय में।

क्या यह विष मिटता स्वतः कभी ?
चिर इसे मिटाना पड़ता है;
वह योद्धा ही विजयी होता
जो निर्मम होकर लड़ता है।

माया - ममता क्या इसके प्रति ?
सर्पिणी महाघातिका बनी;
इसके विष से संस्कृति समाप्त;
मिट सकती है सारी अवनी।

लग सकती कर्त्ता को शीतल,
पर इसमें होती है ज्वाला;
पाकर समीर यह बढ़ती है;
यह महानाश का पथ काला।

इस वैमनस्य के बढ़ने से
हो सकता स्थायी लाभ कहाँ ?
है नाश अवश्यम्भावी ही—
सबका, रहता यह गरल जहाँ।

होते आये हैं जाति - युद्ध;
हत्याएँ अगणित, रक्तपात;
आई जीवन को दूभरता;
आये नर - निर्मित चक्रवात।

कितने अतिभीषण अग्निकाण्ड;
संहार अपरिमित धन - जन का;
हो जाते हैं नर शरणहीन;
कुछ नहीं भरोसा जीवन का।

मारी जाती हैं महिलाएँ;
शिशुगण भी हैं मारे जाते;
कितनी बर्बरता, नृशंसता !
साक्षात् प्रलय जन हैं लाते।

व्यापता घोर आतंक - तिमिर
है; बलात्कार जड़ अमानुषिक;
करता ज्यों रौरव ही ताण्डव;
यह क्रम बन जाता है दैनिक।

लेखनी नहीं लिख पाती है;
लेखन में है लज्जा भारी;
कितना कलक, क्रूरता घोर;
नर कहाँ सभ्यता - अधिकारी ?

संस्कृति का रहता लेश नहीं;
वीभत्स विकृति का नग्न नृत्य—
चलता रहता है लगातार;
लज्जित होते पाशविक कृत्य।

चलती विभीषिका यह क्षण - क्षण;
जीवन भयार्त्त, अति अस्त - व्यस्त;
होते विभस्मवत् ग्राम-नगर;
सर्वस्व नष्ट, कुल महाध्वस्त।

जाने कब जीवन पुनः जगे;
जाने कब आये सद्विचार !
समता - एकता सुजन - समुचित
खोलेगी व्यापक सिंह-द्वार !

५. सर्ग—५ : सम्प्रदाय

मनुज ने जब धर्म संस्थापित किये तो
नाम भी उनके हुए क्रमशः निरूपित;
चाहता पार्थक्य नर पहचान के हित;
धर्म भः है सम्प्रदायों में विभाजित।

कर्म के अनुसार जैसे वर्ण - गण थे,
सम्प्रदायों के हुए क्रमशः निरूपण;
यों विभाजित हो गई तब मनुजता भी;
हो गये सम्पूर्णता के विविधता-कण।

क्यों हुए, कैसे हुए, यह पूछना क्या ?
हो गये तो भिन्न रेखाएँ गईं बन;
ज्यों सदा प्राचीर कर देता पृथक् है;
सर्वदा पार्थक्य लाता है विविध व्रण।

हो गईं यों ही विभाजित प्रार्थनाएँ;
भिन्न रूप हुए कथित समुपासना के;
आ गई भाषा लिये पार्थक्य अपने;
शब्द भिन्न बने मनुज की कामना के।

वाद्य भी आये लिये निज भिन्नताएँ;
भिन्नता लाती चली आईं ध्वजाएँ;
वर्जनाओं के हुए संघर्ष प्रायः;
भिन्नता की यों बनीं शत योजनाएँ।

चन्द्रमा - दिनमान भी टकरा गये ही;
पूर्व - पश्चिम का हुआ टकराव भारी;
देश एक, अनेक शाखाएँ हुई फिर;
सम्प्रदायों के हुए संघर्ष जारी।

धर्म तो क्रमशः गया है छूटता ही;
सम्प्रदायों के हुए आग्रह - दुराग्रह;
हो गये विकराल रूप अनेकता के;
युद्ध की स्थितियाँ हुईं उत्पन्न रह-रह।

रुधिर का भी पात होने लग गया तब;
मनुज-हत्या में निहित क्या धर्म होता ?
लड़ गये सुन्नी-शिया यों ही परस्पर;
सिक्ख - हिन्दू - भेद भी संघर्ष बोता।

क्या हुए टकराव मन्दिर-मस्जिदों में ?
वे हुए हिन्दू - मुसलमाँ में परस्पर;
सिक्ख भी पीछे रहे इस होड़ में क्या ?
रुधिर बहता ही गया नर का निरन्तर।

नाम स्रष्टा का लिया संहार के हित;
ध्वांत की लीला रही चलती अपरिमित;
धर्म तो है सन्निहित सद्भावना में;
दे रहे दुर्भावनाएँ जन असीमित।

धर्म सह-अस्तित्व में ही तो निहित है;
सतत समरसता सभी की है अपेक्षित;
किन्तु सहविध्वंस व्यापक हो रहा है;
धर्म के सिद्धान्त हैं खण्डित - उपेक्षित।

पाप को, दुष्कर्म को क्या धर्म कहते ?
क्या भला अपराध में है धर्म रहता ?
क्या मनुज सारे नहीं हैं बन्धु होते ?
बन्धुवध को मान्य क्या है धर्म कहता ?

घोर अत्याचार धर्माचार है क्या ?
स्वार्थ ही क्या धर्म में परमार्थ होता ?
साम्प्रदायिकता हुई उत्पन्न क्रमशः;
बीज मानव-ध्वंस के क्या धर्म बोता ?

रूढ़ियाँ, पाखण्ड, आडम्बर भला क्या
धर्म के हैं अंश या आयाम होते ?
साम्प्रदायिकता गई नरघातिका बन;
धर्म तो हैं सर्वदा निष्काम होते।

जातियाँ जैसे नहीं होती बुरी थीं;
सम्प्रदायों में नहीं थी कुछ बुराई;
साम्प्रदायिकता परन्तु कहीं भली क्या ?
बन गई जातीयतावत् कूप - खाई।

पशु कहाँ होते बुरे ? पशुता बुरी है;
मनुज-तन क्या ? मनुजता होती भली है;
हैं बुराई औ' भलाई मानवों में;
मनुजता तो प्रीति-समता में पली है।

जातियों से बन गईं उपजातियाँ ज्यों,
रूप सम्मुख आ गये उपसाम्प्रदायिक;
खण्ड से उपखण्ड भी उत्पन्न होते;
धर्म के होते गये यों रूप मायिक।

तत्त्व तो है धर्म का अध्यात्म शाश्वत;
मानवों में भेद करना तत्त्व क्या है ?
'एक हैं मानव सभी - सन्देश उसका;
साम्प्रदायिकता - सुलभ एकत्व क्या है ?

धर्म तो चिर दान में, अवदान में है;
स्वार्थ में उसका कदापि निवास क्या है ?
मानवों में भेद उसका ध्येय है क्या ?
यदि नहीं हो सर्वहित, उल्लास क्या है ?

भेद शाब्दिक ही सभी, तात्त्विक नहीं हैं;
मानवों में है न रहता भेद कोई;
धर्म तो रहता निहित नर-एकता में;
मनुज ने है भेद की दुर्नीति बोई।

भेद से उपभेद की उत्पत्ति होती;
सतत ही उपपत्ति-क्रम, प्रतिपत्ति-क्रम है;
क्या निरर्थक ही नहीं यह श्रृंखला है ?
पूर्ण सार्थक मानवों का ऐक्य - श्रम है ।

ऐक्य के इतिहास को आगे बढ़ायें;
खण्ड-भेद-विभेद के पथ पर चलें क्यों ?
लक्ष्य हो सर्वत्र दीपोत्सव हमारा;
एक ही गृह में भला दीपक जले क्यों ?

गृह बनें मन्दिर स्वयं, मस्जिद बनें गृह;
उभय में तब क्यों कहीं संघर्ष होगा ?
प्रेम से, चिर शान्ति से सब जन रहें तो—
क्या नहीं सबका सतत उत्कर्ष होगा ?

अन्न के हित चाहिए कृषि-कर्म सम्यक्;
क्यों करें संघर्ष लेने को उपायन ?
धर्म की कृषि सर्वदा अध्यात्म ही तो;
क्यों करें मानव परस्पर कलह या रण ?

चाहते कुछ व्यक्ति हैं वर्चस्व अपना,
जब कि होती व्यक्ति से संस्था बड़ी है;
सतत संस्था से बड़े सिद्धान्त होते;
नींव पर सिद्धान्त की संसृति खड़ी है ।

मनुजता - रक्षण प्रथम है लक्ष्य नर का;
चाहिए संकल्प होना दूरगामी;
क्या नहीं मानव रहे चिर दूरदर्शी ?
क्या रहे नर सर्वदा केवल प्रणामी ?

वारि उसको चाहिए जो हो पिपासित;
क्या तृषा में जीव की थी जाति मानी ?
तृषित खर को मान रामेश्वर लिया था;
सन्त ज्ञानेश्वर हुए हैं परम ज्ञानी ।

कष्ट से कितने गये थे वे हिमालय !
कष्ट से ही प्राप्त गंगाजल हुआ था;
पर तृषित को छोड़कर आगे बढ़ें क्यों ?
ज्ञान का आलोक ही सम्बल हुआ था ।

रूढ़ियों से क्या कभी होती प्रगति है ?
दृष्टि नर की सर्वदा उन्मुक्त वांछित;
सर्वदैव विवेक हो, संचेतना हो;
ज्योति-पथ पर ही बढ़े मानव न क्या नित ?

साम्प्रदायिक दृष्टि कितनी दूर जाती ?
मनुज - समता - रवि नही वह देख पाती;
जीव - समता क्या भला वह देख पाये ?
नासिका तक देख, कोलाहल मचाती।

मनुज की गरिमा कहाँ संकीर्णता में ?
वह सदा रहती समग्र उदारता में;
देह लघु होती भले नर की सुनिश्चित;
किन्तु रहता सत्य है अविभाज्यता में।

चाहिए उन्मुक्ति सारे मानवों की;
सर्वदैव समान होते नागरिक हैं;
साम्प्रदायिक भेद से क्या दास होंगे ?
पूर्ण सम अधिकार - पथ के कुल पथिक हैं।

हट गया मानव जभी इस मार्ग से है,
घोर हत्या, नाश का ही क्रम चला है;
रक्त की नदियाँ बहीं, नरमुण्ड खण्डित;
सभ्यता में क्या यही जीवन - कला है ?

मारता है जो, भला मरता नहीं क्या ?
क्यों भला हो मारना - मरना परस्पर ?
मनुज का जीवन करे खण्डित मनुज क्यों ?
मारता है जो, भला क्या है अनश्वर ?

सतत सह - अस्तित्व से सुविकास होता;
सृष्टि का सौन्दर्य निहित अनेकता में;
एकता के सूत्र रहते सन्निहित हैं;
क्या नहीं जीवित रहें जन विविधता में ?

मनुज को अधिकार जीने का मिला है;
क्यों करें हम पूर्व ही जीवन - समापन ?
प्रेम के, सहयोग के हैं तत्त्व सब में;
क्या घृणा में, द्वेष में है सबल यौवन ?

विगत लक्ष्यों से बढ़े आगे अनवरत;
मानवों का लक्ष्य है गतिमान रहना;
ढूँढ़ते चलना उसे जोवन मधुर है;
द्वेष - कटुता का नहीं आवेग सहना।

ध्येय निर्धारित हुए थे जो विगत में,
प्राप्त कर उनको बढ़े नर सतत आगे;
जोड़ पायेंगे तभी मांगल्य को चिर;
ऐक्य के कुछ हो गये हैं भग्न धागे।

क्या समय रहता किसी भी बिन्दु पर स्थिर ?
एक पल भी वह कभी रुकता नहीं है;
है भविष्यत् का शिखर लाता सवेरा;
गत निशा के सामने झुकता नहीं है।

घोर क्रूर नृशंसता का कलुष व्यापक;
तीर्थ भी क्या हैं न होते रक्तरंजित ?
वेग आता ही रहा अपवित्रता का;
धन्य हैं वे, रह सके हैं जो अकलुषित।

अंक जननी के हुए सूने अकारण;
बहन के भाई छिने निर्दोष अगणित;
शिशु अनेक अनाथ होकर क्या सुखी थे ?
क्या नहीं वधुएँ हुईं सौभाग्य - वंचित ?

व्याप्त होता ही रहा उन्माद व्यापक;
मानवों ने निज सहज पहचान त्यागी;
साम्प्रदायिक भावना का नग्न ताण्डव;
मनुज से ही मनुजता की वृत्ति भागी।

भाव को दुर्भाव करना जानता नर;
कर्म को दुष्कर्म करना जानता है;
रूप सेवा का दिखाता बाह्यता में;
स्वार्थ को ही साध्य अपना मानता है।

ताप - तप से स्वर्ण को हैं शुद्ध करते;
स्वल्प जन ही इस विरलता के पथिक हैं;
सम्प्रदायों को किया करते विकृत जन;
मनुज के रक्षक नहीं, बनते वधिक हैं।

रूप समुज्वल सम्प्रदाय का नर ने दिया न रहने;
अपने दुष्कृत्यों से उसको कर डाला है काला;
चन्दन का गुण तो शीतलता, किन्तु जला देते जब,
उसके भीतर से निःसृत होती है भीषण ज्वाला।

स्वच्छ रह सकें सम्प्रदाय, ऐसा प्रयास वांछित है;
पर क्या निश्चित है कि रूप उनका न पुनः बिगड़ेगा ?
क्या न प्रदूषण की प्रवृत्ति कर देगी उसे प्रदूषित ?
विष-प्रवृत्ति भीतर हो तो क्या बाहर अमृत झड़ेगा ?

पुनः मूल की ओर चले नर, शाखाओं को छोड़े;
तत्त्वों को ही ग्रहण करे, आडम्बर करे बहिष्कृत;
रहे ताजिया, प्रतिमा अथवा, क्या है अहित किसी का ?
आवश्यक है यही नहीं क्या मानव बने सुसंस्कृत ?

मानव को माने अवध्य तो क्या हत्याएँ होंगी ?
सम्प्रदाय-बन्धुत्व नहीं, बन्धुत्व चाहिए व्यापक;
देश - भक्ति हो, रहें देशवासी बन भाई - भाई;
सभी नारियों को मानें माँ-बहनें, यह आवश्यक।

सम्प्रदाय क्या घृणा सिखाता ? प्रेम नहीं सिखलाता ?
क्या हत्या या लूट सिखाता ? रक्षा नहीं सिखाता ?
क्या मानव से मानव का सम्बन्ध नहीं कुछ होता ?
क्या भविष्य में नहीं रहेगा नर से नर का नाता ?

सम्प्रदाय क्या सर्वोपरि है ? भला त्याज्य मानवता ?
क्या मनुष्य के वध में रहते धर्म और परमेश्वर ?
यदि नरत्व हो नहीं, कहो, क्या 'नर' संज्ञा सच्ची है !
यदि प्रकाश दे सके नहीं, क्या होगा सच्चा भास्कर !

शीतलता यदि नहीं रहे तो हिम क्या हैं कह सकते ?
प्रेम नहीं हो तो क्या सार्थक 'हृदय' नाम हो सकता ?
यदि न शान्ति हो तो मनुष्य क्या सुख पानेवाला है ?
समता यदि न रहे, नर क्या सुखनिद्रा में सो सकता ?

समग्रता में सत्य निहित हैं, आंशिकता में है क्या ?
सत्य प्रवाहित होता रहता अखण्डता - धारा में;
रहे खण्ड भी ग्रहण, दिवाकर-शशि खण्डित ही लगते;
सुविधा हो जितनी भी, क्या है स्वतंत्रता कारा में ?

पिंजड़ा तो पिंजड़ा ही है, हो सोने या चाँदी का;
मनुज साम्प्रदायिकता में क्या शुचि मानव रह जाता ?
खण्डित रखकर दृष्टि मनुज क्या पूर्ण सत्य देखेगा ?
रुग्ण मनुज क्या स्वस्थ रहेगा, हो जो कुछ भी खाता ?

सदा सन्तुलन-संयम से ही तो जीवन बनता है;
स्वस्थ रूप है यह जीवन का, यही रूप मानव का;
पशु रखते हैं नहीं सन्तुलन-संयम, वे क्या नर है !
भला साम्प्रदायिकता में क्या है निवास गौरव का !

उदारता से चलती वसुधा, सहिष्णुता से चलती;
सह-अस्तित्व-ज्योति से चलती; चलती सहजीवन से;
सभी सुखी, नीरोग सभी हों, यही रूप मनुजोचित
जो भी नर ले जन्म, जिये निर्भय, अक्षत रह व्रण से।

मानव ने हैं किये पूर्व में जीवन-तत्त्व निरूपित;
वे ही तो हैं मूल तत्त्व; उनका चिर संरक्षण हो;
निहित नहीं उनमें दंगा है, सतत प्रेम उद्भासित;
मानवता की पूर्ण प्रभा का रक्षण - संवर्द्धन हो।

६. सर्ग—६ : संघर्ष

संघर्ष सहज स्वाभाविक था
जनसंख्या की जब हुई बाढ़;
जल से जब दुग्ध बढ़ेगा तब
क्या रह सकता है वह प्रगाढ़ !

जब जातीयता बढ़ी क्रमशः—
तब संघर्षों ने जन्म लिया;
क्या कभी साम्प्रदायिकता ने
रक्षित मानव का प्रेम किया !

क्षेत्रों के कारण क्षेत्रवाद
का आया संकीर्णता - भाव,
फिर वर्गवाद ने भी क्रमशः
दिखलाया निज घातक दुराव।

स्वार्थों के भी टकराव हुए;
परिणाम घोर होना ही था;
रख सका नहीं सन्तुलन और
संयम, नर को रोना ही था।

शोभनता तो रह गई अल्प;
अतिशय बढ़ आई भीषणता;
दुर्बल स्वतंत्र जन पर हावी
हो गई सबल की नृशंसता।

है सदा घोरतम परवशता
अपहृत स्वतंत्रता को करती;
कालिमा राहु की पड़ती तो
शशि की उज्ज्वलता है मरती।

कारक हों छोटे या कि बड़े,
संघर्षों के उत्पादक हैं;
टकराव कहें या कहें युद्ध,
होते विनाश - उत्पादक हैं।

कंकड़ी एक डाली जाती
तो सर में हो जाती हलचल;
यदि कतिपय ही नर बनें दुष्ट,
होगी समाज में उथल - पुथल।

ऐसा क्रमशः होता आया;
क्या होती सब में सज्जनता?
कर देती है उत्पात घोर
अत्यल्प जनों की दुर्जनता।

कुछ व्यक्ति उपद्रव करते हैं,
मच जाता भारी कोलाहल;
तब कहीं नहीं संघर्ष छोड़
कर दिखता जीवन का सम्बल।

जैसे जब आता है अन्धड़,
पल्लव - गण झड़ने लगते हैं;
संघर्षों से संघर्ष और
होते हैं, बढ़ने लगते हैं।

इस भाँति बढ़े संघर्ष, और
हो गये पूर्णतः अनियत्रित;
जानता कौन, कितने मानव
उनसे हो गये महापीड़ित!

भीषणता क्या संयत होती ?
वह क्रमशः बढ़ती जाती है;
शोभनता, शालीनता और
गरिमा विलम्ब से आती है।

गति सामाजिक भी थी ऐसी;
बढ़कर अकाम्यता हुई विकट;
जो रक्षणीय थे, हुए दूर;
जो थे अकाम्य, आ गये निकट।

टकरावों की यदि हो प्रवृत्ति,
उनका अवरोध कठिन होता;
कम व्यक्ति लगाते सुमन, किन्तु
प्रायः समूह कण्टक बोता।

दायित्व अमित चिन्तक का है;
दायित्व बड़ा है सज्जन का;
वर्चस्व नहीं वे बढ़ने दें
मानव - समाज पर दुर्जन का।

फल रहे एक भी सड़ा हुआ,
अन्यों को तुरत सड़ाता हैं;
जो स्तेय - वृत्ति का होता है,
मायावी रूप दिखाता है।

वह देता है कुहराम मचा;
जन वहीं परस्पर टकराते;
दुर्जन बचता छल - छद्मों से;
सीधे - सज्जन पकड़े जाते।

चाहे जो हो, संघर्ष कठिन
है, क्या समाप्त हो पाया है ?
लगता है, झंझा का गति से
वह बढ़ता - चढ़ता आया है।

कारण क्या होता कभी एक ?
वह तो अनेकतन है रहता;
जैसे असंख्य धाराओं में
है भीषण ज्वाला - नद बहता।

संघर्ष नाम पर हुए अमित;
पद के निमित्त संघर्ष हुआ;
पर इससे क्या मानवता का
है कभी कही उत्कर्ष हुआ ?

दुर्जनतामय मूल्यों से ही
संघर्ष सर्वदा सार्थक है;
हो सज्जनता की वृद्धि हेतु
तो रहता चिर आवश्यक है।

वांछिन होते संघर्ष
समस्याओं से और अभावों से;
आवश्यक होते विघटन से;
दुर्भावों और दुरावों से।

जो स्वार्थ हेतु संघर्ष हुए,
उनकी वांछित भर्त्सना सदा,
क्या नही साम्प्रदायिकता है
आ जाती बन जन पर विपदा ?

●

भला जाति - संघर्ष चले क्यों ?
चले सदैव समलता से;
सतत नागरिकता - रक्षा हित,
या जन की दुर्बलता से।

है संघर्ष अपेक्षित रहता
रोग - शोक - निर्धनता से;
चलना ही चाहिए उसे चिर
मानव की परवशता से।

चले सदा दुर्बुद्धि - कर्म से;
अनय, भीति, कायरता से;
चलना ही चाहिए उसे चिर
शोषण और विषमता से।

क्यों शोषण करने को हो यह ?
क्यों हो दास बनाने को ?
क्या कदापि संघर्ष अपेक्षित
नर पर विपदा लाने को ?

पर ऐसे संघर्ष हुए ही
सदा - सर्वथा जो गर्हित;
इनके होने से समाज का
होता ही है घोर अहित।

प्रीति - शान्ति में ही तो रहती
मानवता की धारा है;
रवि - शशि होते सर्वमान्य हैं,
सर्वमान्य ध्रुवतारा है।

मान और अभिमान हेतु भी
हैं संघर्ष हुए अगणित;
कौन जानता कितने जन
इस जघन्यता से हुए व्यथित?

होती ही आई हैं इस
भीषण प्रवृत्ति से हत्याएँ,
क्रमशः बढ़ती गईं निरन्तर
जन - समाज की विपदाएँ।

क्या ऐसों के नाम गिनायें?
हैं इतिहासों में अंकित;
सदा रहेंगे ही वे निन्दित;
क्या हो सकते हैं वन्दित?

चण्ड अशोक और नादिर के
नाम हो चुके हैं चर्चित;
डायर की भी नृशंसता से
सारा भारत है परिचित।

अँग्रेजों ने बहुत सताया;
उनकी क्या गणना सम्भव?
स्वर्ग - कल्पनावत् भारत का
जीवन बना दिया रौरव।

है चेतना अपेक्षित भारत—
की सत्ता चिर दक्षा हो;
सदा समर्पित निज सेना हो;
चिर अजेय प्रतिरक्षा हो।

पशुवत् क्यों आचार करें नर ?
ये हैं नहीं सींगवाले;
उज्ज्वलता ही वांछनीय है;
भला कर्म क्यों हों काले ?

कतिपय मानव तो विचित्र हैं;
पशुवत् लड़ते आये हैं;
तोड़ - फोड़ करते आये, पशु —
पथ पर बढ़ते आये हैं।

अमानुषिक संघर्षों से
कितने मानव मिट जाते हैं;
रह पाता अस्तित्व नहीं;
आनन्द इसीमें पाते हैं।

निद्रा नहीं खुली जनगण की;
कविगण उन्हें जगाते हैं;
सृजन - गीत के बदले जन
जड़ प्रलय - गीत ही गाते हैं।

जीवन तो चिर सृष्टि - निहित है;
प्रीति - सृष्टि सर्वोत्तम है;
कलह - द्वन्द्व ही सब कुछ देता
है, यह तो भारी भ्रम है।

पशुता की क्यों हो प्रवृत्ति ?
मानवता - ज्योति जगानी है;
सुरभि - ज्योति जो है उर में,
वह जीवन में भी लानी है।

कार्यान्वित हो रूप अमृत का;
करें भला विष कार्यान्वित ?
मनुष्यता चिर स्नेहमयी है;
बैर - कलह क्यों हो वर्द्धित ?

मानवतामय ही हो जीवन;
हो सद्भाव - सरसतामय;
क्यों कदापि कटुता - विषादमय
हो ? चिर हो सज्जनतामय।

कितने मन्दिर ढहे, मस्जिदें
भी कितनी बर्बाद हुईं !
पवित्रता की मिटीं बस्तियाँ;
पुन: नहीं आबाद हुईं ।

कितनों के घर - बार लुटे;
खेती औ' कारोबार लुटे;
रोजी - रोटी के साधन
लुट गये, प्राण - संचार लुटे ।

अस्मत लुटी नारियों की,
भीषणतम अत्याचार हुआ;
अनाचार के झंझानिल से
भीषय हाहाकार हुआ ।

रक्तपात - नद हुए प्रवाहित;
महाकरुण चीत्कार हुआ;
नर के द्वारा ही नरता पर
कितना बड़ा प्रहार हुआ ।

क्यों न बढ़ाये नरता को नर ?
पशुता की क्यों वृद्धि करे ?
निज अन्तस्तल में मानवता,
प्रीति, शान्ति का अमृत भरे ।

सहृदयता - सहयोग नहीं क्या
मानव की आवश्यकता ?
सहिष्णुता - संधैर्य - निहित हो
तो रहती है मनुष्यता ।

लड़ना हो तो लड़े मनुज
अन्यायों से, मझधारों से;
क्यों वह लड़े निरपराधों से ?
सुविधापूर्ण किनारों से ?

लड़े कि जैसे हैं लड़ते
दीपक भीषण तूफानों से;
जैसे लड़ते हैं प्रवीर चिर
महाघोर शैतानों से ।

लड़े प्रकृति की प्रलय - शक्ति से;
अनाचार - ज्वालाओं से;
लड़े अभय प्रलयंकरता से;
कलुषित रूढ़ प्रथाओं से।

लड़े निखिल जन-उत्पीड़न से;
बाधा और व्यथाओं से;
भला लड़े क्यों मानवता की
कलिकाओं, आशाओं से ?

७. सर्ग—७ : सामंजस्य

यों नहीं उन्नत हुआ समुदाय है;
सतत सामंजस्य से आगे बढ़ा;
जब हुए संघर्ष तब नीचे गिरा;
गुल्म सामंजस्य से ऊपर चढ़ा।

पूर्ण सहजीवन इसी का नाम है;
पूर्ण सह-अस्तित्व है इसमें निहित;
यह न हो तो, मनुज का जीवन कहाँ ?
सर्वदा होता इसी से पल्लवित।

कर्मयोगी बन सका सहयोग से;
किन्तु सामंजस्य तो अस्तित्व है;
मनुज सामाजिक नहीं तो क्या मनुज ?
सर्वदा उत्सर्ग में व्यक्तित्व है।

स्वार्थ से व्यक्तित्व बन पाया कहाँ ?
सतत बनता आ रहा उत्सर्ग से;
मानवों की शक्ति धैर्य - सहिष्णुता;
प्राप्त है महिमा न होती वर्ग से।

सफल तरु में निहित पूर्ण विनम्रता;
विटप सूखे तो न झुक पाते कभी;
अतः उनका क्या कदापि विकास है ?
प्राण-पथ अवरुद्ध ही रहते सभी।

कह रहा इतिहास चिर इस सत्य को;
मनुज सामंजस्य से गतिमय पथिक;
यदि नहीं करता, कहाँ सुख प्राप्त हो ?
भग्न हो जाता, व्यथा पाता अधिक।

बढ़ गई संघर्ष से जब वेदना,
हो गया अनिवार्य सामंजस्य - पथ;
ग्रहण कर यह पथ सदा आगे बढ़ा;
सफलतापूर्वक बढ़ा है कर्म - रथ।

सत्य यह कहते समस्त पुराण हैं;
सतत उल्लेखक रहा इतिहास है;
प्रगति यातायात का इसमें निहित;
सन्निहित इसमें मधुर मधुमास है।

बढ़ सका संघर्ष से है निकट तक;
दूर तक इस नीति से जाता नहीं;
मुक्त सामंजस्य का जब अश्व हो,
नृपति कोई रोक है पाता नहीं।

सभ्यताएँ जब लड़ीं तब मिट गईं;
सतत सामंजस्य से रक्षित हुईं;
क्या नहीं समवाय - अनुशासन यही ?
सर्वदा इस नीति से वर्द्धित हुईं।

तत्त्व यह चिरकाल संस्कृति-सन्निहित;
और संस्कृति भी निहित इस तत्त्व में;
छोड़कर इसको कहाँ संस्कृति रही ?
साध कर इसको रही अमरत्व में।

मनुज - संस्कृति सर्वदा सर्वोच्च है;
छोड़ सामंजस्य को देती नहीं;
यह कसौटी भी सदा मनुजत्व की;
मनुजता क्या लाभ कुछ लेती नहीं ?

व्यक्ति जब करते परस्पर मिल इसे,
शक्ति बढ़ती है सदैव समाज की;
शिखर - निर्झर सतत सामंजस्यमय;
सर्वदा है शक्ति यह नगराज की।

इस तरह आया यहाँ तक है मनुज;
सतत जीवन है रहा सहयोगमय;
शान्ति-निर्भयता सुलभ रहतीं सदा;
कर न पाया ध्वस्त है भव को प्रलय।

चार दिन की चाँदनी के हेतु क्यों
मनुज सामंजस्य का पथ छोड़ दे?
व्रत परस्पर प्रीति का क्यों तोड़ दे?
धार अन्तःसलिल की क्यों मोड़ दे?

क्यों रचे टकराव की वह खाइयाँ;
पन्थ सामंजस्य का जब है सुगम?
क्यों भला कुत्सित - कुपथगामी बने,
छोड़ सामंजस्य का सौन्दर्य - क्रम?

व्यक्ति-सामंजस्य आया था प्रथम परिवार से;
आ गया परिवार का समवाय से तब;
आ सका क्रमशः भरे समुदाय का भी;
क्यों न हो समुदाय का समुदाय से सब?

भिन्नताएँ परम स्वाभाविक सदा;
भिन्न ही यदि रह गईं तो क्या रहीं?
एकता का सूत्र सामंजस्य में है;
चाहिए यह सूत्र क्या पाना नहीं?

मिल गया यह तत्त्व तो जीवन मिला;
हो गया जीवन परम सुविकासमय;
मिट गये संघर्ष के कारण सभी;
हो गया पथ, क्या न पूर्ण प्रकाशमय?

एकता के सूत्र यों बढ़ने लगे;
कम लगे होने अखिल संघर्ष - कण,
प्रीति - शान्ति - प्रयास भी विकसित हुआ;
और क्रमशः न्यून पारस्परिक रण।

बिन्दु यों क्रमशः मिले, आगे बढ़े;
और उनके मिलन से रेखा बनी;
रक्त-रेखाएँ परस्पर मिल गईं;
भौंह भी रहती किसी पर क्यों तनी ?

यों बढ़े मानव लिये इतिहास नव;
शिशिर ज्यों परिणत हुआ मधुमास में;
दु:ख - रेखाएँ सभी की मिल गईं;
रुदन परिणत हो गया मधुहास में।

खोजता मानव सदा उल्लास है;
सतत सामंजस्य में है सन्निहित;
सर्वदा पथ है यही सुख-शान्ति का;
नियम यह, सिद्धान्त यह रहता विहित।

कल्पना का वास्तविकता से मिलन
रूप देता है सदा निर्माण को;
सात स्वर देते मिला गायक, तभी
रूप दे पाते अमृतमय गान को।

चरण-सामंजस्य जब था चरण का,
चढ़ सका मानव तभी गिरि-शृंग पर;
जब सका अक्षर मिला, जब शब्द भी,
लिख सका अपना बड़ा इतिहास नर।

अमित सामंजस्य-जलकण जब मिले,
बन सके हैं पूर्ण कर्म - तड़ाग तब;
यों नहीं उत्कर्ष हो पाया कभी;
तब हुआ, कुछ हो सका एकत्व जब।

एकता भी एक सामंजस्य है;
अन्यथा होगी असम्भव क्या नहीं ?
निहित सामंजस्य था जिस बिन्दु पर
हो सकी है एकता सम्भव वहीं।

मनुज को चलना पड़ा है दूर तक—
पूर्ण सामंजस्य के इस पन्थ पर;
सतत सामाजिक प्रगति सम्भव हुई;
दे सका नर विश्व को आलोक-स्वर।

क्षेत्र - सामंजस्य से भारत बढ़ा;
राष्ट्र - सामंजस्य से संसार तब;
जब हुईं टकराहटें, बाधा पड़ी;
हो न सामंजस्यमय व्यवहार कब ?

सुख कहाँ विघटन-विखण्डन में कभी ?
मनुजता को चाहिए चिर एकता;
शिष्ट थे आचार तो आगे बढ़ी;
चाहिए चिर शिष्टता - शालीनता ।

व्यक्त सामंजस्य नर में आन्तरिक
जब रहा, होती रही उसकी प्रगति;
साध्य - साधन में जहाँ ऐसा हुआ,
व्यक्त हो पाई सदा उन्नत सुमति ।

अंशुमाली की असंख्यक रश्मियाँ
सतत सामंजस्य से हैं बलवती;
हैं तभी देती दिवस - आलोक वे;
चिर सुचेष्टाएँ रही हैं फलवती ।

क्या न सामंजस्य करता विगत युग
नवल युग की भंगिमाओं से सदा ?
और नवयुग भी भला करता न क्या
विगत युग - सीमान्तरेखा से कदा ?

मनुज ने पशु - जगत् से भी है किया;
और पशु भी क्या कभी पीछे रहे ?
देखना पड़ता दृगों को खोलकर;
देख पायेगा कहाँ जो नयन को मींचे रहे ?

क्या कभी टिकता मनुष्य - समाज है—
जो न सामंजस्य को स्वीकारता ?
क्या भला जीवित रहेगा वह सदा
जो अकारण ही मनुज को मारता ?

दे नहीं पाता किसी को प्राण तो—
मारने का है उसे अधिकार क्या ?
यदि न सामंजस्यमय रहता सतत—
बच सका होता भला संसार क्या ?

पाँच तत्त्वों का समन्वय सर्वदा
देह - निर्माता - सुरक्षक भी बना;
मूल से शाखा कि पल्लव तक रहे,
तब कहीं रहता तना तरु का तना।

अंग - सार्मजस्य से ही तन खड़ा;
पूर्ण सार्मजस्यमय हैं काल - क्षण;
यों नहीं कुसुमित कभी होते विटप;
निहित सामंजस्य में जीवन - सुमन।

लाभ अथवा हानि की चिन्ता करें ?
क्या नहीं सिद्धान्त रक्षा - योग्य चिर ?
कर्म का भी रूप होना चाहिए;
यदि न हो तो क्या भला संकल्प फिर ?

जो लिखा जाता, किया जाये सदा;
मन, वचन औ' कर्म में हो एकता;
सतत समता - भाव रहना चाहिए;
नियमगत या नीतिगत क्यों विषमता ?

चिर कला - विज्ञान - सामंजस्य हो;
एक से ही काम चल पाता नहीं;
मनुजगण भी क्यों नहीं इस भाँति हों ?
क्या परस्पर मनुज का नाता नहीं ?

आचरण - लेखन - समन्वय हो सदा;
कर्म - वाणी का समन्वय भी रहे;
सत्य का अस्तित्व है इस रूप में;
सत्य को निर्भीक हो मानव कहे।

प्रीति का है मूल सामंजस्त में;
इस कसौटी पर खरी है मनुजता;
सतत मानव - मूल्य इसमें सन्निहित;
सन्निहित हैं शुद्ध संस्कृति - सभ्यता।

मनुजता तौली नहीं जाती कभी,
क्योंकि होती सर्वदैव गुणात्मिका;
देह - धन से क्या सुपरिचय तत्त्व का ?
तत्त्व की सत्ता सदा प्राणात्मिका।

क्या भला आधार की रक्षा न हो ?
सृष्टि सामंजस्य पर आधारिता;
छोड़कर आधार क्या होती धरा
विकसिता, मधुपुष्पिता, आनन्दिता ?

बुद्धि - श्रम का चिर समन्वय चाहिए;
प्राप्त होगा कर्म का आलोक तब;
कब न जाने पूर्ण जीवन व्याप्त हो;
हो सकेगा व्याप्त सामंजस्य कब ?

८. सर्ग—८ : शासन

नर को अनुभूति हुई ऐसी,
आवश्यक आत्म-नियंत्रण है;
चिर जन - जन में अनुशासन हो;
तब सम्भव सम्यक् जीवन है।

वनवत् क्यों जीवन अनियंत्रित
बढ़ता जाये, उच्छृंखल हो ?
वांछित संयम - सन्तुलन पूर्ण,
सन्तुलित सदा तन - धन - बल हो।

करता ही गया प्रयोग मनुज;
करता ही रहा सतत चिन्तन;
ढूँढ़ता रहा पथ जीवन का;
ढूँढ़ता चला चिर नव जीवन।

संयत - सन्तुलित रहें शाश्वत
मानव शरीर मन - बुद्धि कर्म;
संज्ञात हुआ, इसमें ही है
चिर नरजीवन का मूल मर्म।

जब बने मनुज - परिवार स्वतः
अनुभूत हो गया जन - शासन;
आया स्वभावतः व्यक्ति - तंत्र;
आवश्यक था आज्ञापालन।

शासन चलता अनुशासन से;
आज्ञापालन का बन्धन हो;
अनुशासन ही यदि नहीं रहे;
कैसे शासन - संचालन हो?

परिवारों में ज्यों व्यक्ति - तंत्र,
आया समाज में राजतंत्र;
जनपद में त्यों सामन्त - तंत्र;
सबके हित हों नीतियाँ मंत्र।

पर शासक बन जाता मदान्ध,
क्रमशः बनता है उच्छृंखल;
राजा हो गये निरंकुशवत्;
सामन्त - निपीड़ित जन दुर्बल।

आ गये महाजन भी क्रमशः;
ऋणग्रस्त हुई निर्धन जनता;
इस भाँति महाजन हुए पृथुल;
बढ़ गई ऋणी 'की निर्धनता।

मरता जन भला न क्या करता?
तोड़ा उसने सामन्तवाद;
कर दिया भग्न जड़ राजतंत्र;
लाया अपना जनतंत्रवाद।

बीतीं शताब्दियाँ कितनी ही;
क्या वर्ष - मास में था सम्भव?
बीते सहस्र कितने वत्सर,
तब नर ने पाया निज गौरव।

कुछ यहाँ और कुछ वहाँ हुआ,
लग गये हजारों साल अतः
देखते गये जन खोल नयन,
क्रमशः परिवर्तन इतस्ततः।

करते आये कुछ - कुछ प्रयोग,
तो कुछ - कुछ अनुभव प्राप्त हुआ;
कुछ आन्दोलन, विप्लव, प्रचार,
कुछ लोक - जागरण व्याप्त हुआ।

ग्रामों के चले प्रथम शासन;
थी ग्राम - सभा या पंचायत;
नगरों में बने नगर - शासन;
क्रमशः कुछ नियम हुए आगत।

होते ही आये संशोधन,
फिर परिवर्तन पर परिवर्तन,
हो गया वित्त भी आवश्यक;
हो गया अतः कर - निर्धारण।

शासन कर्त्तव्य करे सम्यक्,
यह अभिलाषा थी जनगण की;
जनता की इच्छा हुई व्यक्त,
कुछ शिथिल जकड़ भी बन्धन की।

बन्धन कब मानव को प्रिय है ?
पशु भी चाहते नही बन्धन;
नर तो चाहता कि मुक्त रहें
चिर वाणी, लेखन औ' चिन्तन।

बेड़ियाँ विचारों पर क्या हों ?
वे हों स्वतंत्र जिस भाँति पवन;
मानव क्रीड़ा का जन्तु नहीं;
कर सके विपिन - सम्भव गर्जन।

दासत्व उमड़कर जब आया,
बेड़ियाँ तोड़ दी हैं नर ने;
सूली के फन्दे में भी तो
वह लगा सिंह - गर्जन करने।

लेखनी - शक्ति कर में अमोघ
है, क्यों उसको बेचता फिरे ?
निज मानवता के मेरु - शिखर
पर चढ़कर क्यों ? किस हेतु गिरे ?

जीना है तो उच्चासन पर,
उच्चासन पर ही मरना है;
ज्योतिष्प्रदान उन्मुक्त भाव
से वसुन्धरा को करना है।

जीवन विक्रय की वस्तु नहीं;
दासत्व कभी स्वीकार नहीं;
जीवन - अधिकारों का हर्त्ता
छीनता मरण - अधिकार कहीं ?

अपहरण भले होता नर का;
अपहृत क्या होते हैं विचार ?
असली मानव करता विरोध
जब - जब होते हैं अनाचार।

चल पाये भ्रष्टाचार भले,
पर अनाचार कब चल सकता ?
जल सकता ज्वाला में मनुष्य,
पर सद्विचार कब जल सकता ?

दृढ़ सद्विचार ही मानवता
को युग - युग रखते संजीवित;
उन्मूलित होते ग्राम - नगर;
पर सद्विचार कब उन्मूलित ?

मारे जाते हैं मनुज, किन्तु
क्या मनुष्यता मारी जाती ?
अत्याचारों की झंझा से
लड़ने का जीवन - बल पाती।

नरतनधारी शोषण करते
तो क्या सच्चा सुख हैं पाते ?
जो अन्यों को बाधित करते
वे स्वयं कहाँ तक हैं जाते ?

लड़ती आई चिर मानवता
है बन्धन, अनय, विषमता से;
करती आई है व्यक्त प्रीति
शुभ शान्ति, मुक्ति औ' समता से।

वह चाह रही थी, शासन भी
चिर स्वतंत्रता - संरक्षक हो;
सबके प्रति वह समतामय हो;
नर का कदापि क्यों शोषक हो ?

श्रम का देता हो मूल्य उचित;
सम्मान बुद्धि का करता हो;
वह नहीं किसी का गृह कदापि
उत्कोच - आय से भरता हो।

जन के धन - जीवन के प्रति भी
शासक रखता समरसता हो;
क्यों वह कदापि हो धनकुबेर ?
जनगण - धन हेतु तरसता हो।

वैषम्य व्यक्त करता ज्वाला;
सोने का देश जला देता;
कैसा भी हो इस्पात - व्यूह,
पल भर में उसे गला देता।

जो शासक होते हैं मदान्ध,
वे कभी देखते सत्य नहीं;
सत्ता क्या शाश्वत हो सकती
जब जीवन का सातत्य नहीं ?

पायें न देख चाहे कदापि,
पर अन्त स्वतः आ जाता है;
सत्ता से किसका हो पाता
चिर काल के लिए नाता है ?

सर्वोपरि सत्ता शाश्वत वह
रखती, जो शासित जनता है;
दुर्जनता पर अन्ततः विजय
पाती अवश्य सज्जनता है।

कालक्रम से जनता ने यों
चिर विजयमयी अँगड़ाई ली;
अपने अधिकार बचाने को
सत्ता से अभय लड़ाई ली।

हो ग्राम या कि हो नगर, किसे
स्वीकार भला शोषण होता ?
तरुवासी विहगों को भी प्रिय
क्या पिंजड़े का बन्धन होता ?

अनवरत प्रयोगों के अनुभव
से होती आई सतत प्रगति;
जो कुमतिग्रस्त थे उनमें भी
क्रमशः कुछ - कुछ आ गई सुमति ।

क्रमशः आ - आकर दमन - चक्र
उद्दाम स्वयं हो गये दमित;
झुकना शासन को पड़ा सदा;
जनगण दृढ़ रहे सदा अनमित ।

करना ही पड़ता शासन को
निज नृशंसता का उन्मूलन;
टूटता भले, झुकता न कभी
दुर्दम जनगण का जय - यौवन ।

जनहित में ही शासन का हित,
क्रमशः सत्ता ने यह जाना;
जनता ने भी क्रमशः क्रमशः
निज अधिकारों को पहचाना ।

जीवन रहता चेतना - निहित;
अविरत सुधार में रहता है;
चिर वही न्याय - संरक्षक है
अन्याय नहीं जो सहता है ।

शासन हिंसा - बल अपनाता
है किन्तु अहिंसा - बल बढ़कर;
जनता ने यह दिखलाया है,
लाई वह शासन को पथ पर ।

केवल आवश्यक स्वाभिमान;
सारे मानव तो हैं समान;
शासन को दिखला देती है
जनता बढ़ - चढ़कर शानबान ।

शासन है नहला ही रहता;
जनता ही रहती है दहला;
जनबल के सम्मुख नत होती
शासन की सेना - युद्धकला।

सेना देती है उलट - पुलट
शासन का दम्भी सिंहासन;
सेना पर भी विजयी होता
जनगण का जनहित - आन्दोलन।

नागरिकों के अधिकार नियत
क्रमशः क्रमशः हो पाये हैं;
चिर जागरूक नागरिक सदा
निज रक्षा करते आये हैं।

जन की रक्षा अधिकारों की
रक्षा में ही रहती शाश्वत;
इस भाँति पूर्ण करते आये
जन सतत आत्मरक्षा का व्रत।

क्रमशः आया है लोकतंत्र
जनता के मत - अधिकारों से;
जसे आती है स्वतंत्रता
एकतापूर्ण ललकारों से।

एकता नहीं तो क्या बल है?
झुकता शासन इस बल से ही;
जैसे बुझता है अनल सदा
पर्याप्त प्रवर्षित जल से ही।

अधिकारों का भी अर्थ कहाँ,
यदि नहीं जागरण रहता हो?
वह कहाँ न्याय पा सकता है
चुपचाप अनय जो सहता हो?

यदि हो अन्याय दबा देना
तो करना ही होगा विरोध;
एकता - शक्ति लानी होगी;
क्या कर सकता है मात्र क्रोध?

इस भाँति जागरण से क्रमशः
स्वातंत्र्य मानवों ने पाया;
मानव है निज संघर्ष - कुलिश
के बल से लोकतंत्र लाया।

बन पाया इसका संविधान
तो बालिग मत - अधिकार मिला;
यों लगा कि कुटियों में जन की
नवजीवन का है सुमन खिला।

पर इतने से क्या होना था?
बालिग शिक्षा भी हो सम्यक्;
बालिग - निर्धनता का भी तो
उन्मूलन रहता आवश्यक।

अन्यथा अशिक्षित समझ कहाँ
पाते मतपत्रों का महत्त्व?
उनपर हावी हो ही जाते
हैं लोकतंत्र - प्रतिकूल तत्त्व।

विकने लगते मतपत्र और
बच पाते जन - अधिकार नहीं;
लूटे जाते मतदान - केन्द्र;
घटता जनता का भार नहीं।

केवल खुदरा हो नहीं, थोक
में भी क्रय धन कर लेता है;
अपराध - कर्मियों के बल से
जन - स्वत्व अखिल हर लेता है।

आवश्यक व्यापक जन - शिक्षा,
उन्मूलन भी निर्धनता का;
रह सकता मत - स्वातंत्र्य तभी
तो पूर्ण सुरक्षित जनता का।

जो लोक - हितैषी जन होते
उनका कर्त्तव्य महत् होता;
जागता रहे जनबल समस्त;
वह रहे न कभी अधिक सोता।

जागरणा चेतना का चिर हो;
आवश्यक व्यापक आन्दोलन;
प्रहरी बनकर रहने से ही
रक्षित होता स्वत्वों का धन।

जीवन मनुष्य का रहता है
कर्त्तव्यों में, अधिकारों में;
वह कहाँ सुरक्षित रह पाता
क्रन्दन में, हाहाकारों में ?

कर्त्तव्य जागरण भी होता;
होता सम्यक् आन्दोलन भी;
आवश्यक होता जनगण का
एकत्व, समूह - संगठन भी।

शासन का सर्वोत्तम प्रकार
है लोकतंत्र ही मान्य हुआ;
सारी शासन - पद्धतियों में
इसका ही तो प्राधान्य हुआ।

पर क्या न अशिक्षा - निर्धनता
के कारण कुण्ठित आशाएँ ?
भीषण घपलों - हथकण्डों की
हो ही सकतीं आशंकाएँ।

आवश्यक रहना सावधान;
दोनों को दूर हटाना है,
यदि मानव को जनतंत्रवाद
से सम्यक् लाभ उठाना है।

यदि रहें अशिक्षा - बेकारी
होगा स्वतंत्र क्या निर्वाचन ?
स्वच्छता रहेगी क्या उसमें ?
क्या सम्भव है जनहित - साधन ?

व्यक्तिगत स्वार्थसाधन से क्या
सामूहिक हित होता सम्भव ?
क्या कुछ को धन मिलने से ही
मिलता सबको सम्यक् वैभव ?

धनिकों का धन अतिशय बढ़ता,
बढ़ती निर्धन की निर्धनता,
तो क्या सम्भव है लोकतंत्र ?
क्या सम्भव जन की प्रसन्नता ?

जन का प्रहर्ष है सदा निकष
होता जनता की सत्ता का;
जीवन - साधन पर्याप्त रहें;
हो अनुभव नहीं विषमता का।

क्यों रहे सतत संघर्ष - मग्न ?
उत्कर्ष चाहिए जनता का;
दुर्जनना का वर्चस्व न हो;
सम्मान रहे सज्जनता का।

यदि यह सम्भव हो नहीं भला,
सज्जनता क्या बढ़ पायेगी ?
यदि अन्धकार ही हो विजयी,
तो ज्योति कहाँ से आयेगी ?

ज्यों अन्धकार - झंझानिल से
जलता दीपक भी बुझ जाता,
त्यों घोर अशिक्षा - निर्धनता
से लोकतंत्र क्या रह पाता ?

आचार - संहिता भी वांछित,
जो सतत सत्य, कार्यान्वित हो;
हो नहीं दिखाने को केवल,
केवल वह नहीं प्रचारित हो।

आचार सदा सर्वोपरि है;
वांछित है शाश्वत सदाचार
क्या लोकतंत्र - आधार कभी
बन सकता कोई अनाचार ?

यदि हों रक्षित सिद्धान्त नहीं;
हो मानव - मूल्य नहीं रक्षित;
तो लोकतंत्र क्या सम्भव है ?
क्या भला रूप लेगा समुचित ?

उद्घोष - घोषणाओं से क्या
वस्तुत: कार्य सम्भव होता ?
कोरे आश्वासन से जनता
को सुलभ कहाँ वैभव होता ?

है लोकतंत्र - दायित्व महत्
निर्वाचक का, निर्वाचित का;
निर्वाचक ही संस्थापक भी
रहता हैं समुचित - अनुचित का।

अधिकार उसीका तो होता,
निर्वाचित का अधिकार कहाँ ?
वादक ही यदि न बजाये तो
बजता वीणा का तार कहाँ ?

निर्वाचित हैं ज्यों वाद्ययंत्र,
निर्वाचक उन्हें बजाते हैं;
अथवा नर्तकवत् निर्वाचित,
निर्वाचक उन्हें नचाते हैं।

चिर हैं स्वतंत्रता - लोकतंत्र
जन - जीवन के आलोक - शिखर;
इनके अभाव में अन्धकार,
सुख का प्रकाश इनके पथ पर।

समता हो मत - अधिकारों की
तो रहे नीतिगत भी समता;
सब हों समान नागरिक सदा;
क्यों भेदभाव के प्रति ममता ?

है जन - सुख कहीं कभी आया
तो आया है समता - पथ से;
कुचले जायें क्यों मानव - गण
जड़ विषम नीतियों के रथ से ?

जो धन - शिक्षा से दुर्बल हों,
उनको समता - स्तर पर लायें;
जो सर्वाधिक निर्धन जन हों
उनको सर्वाधिक अपनायें।

जन्मना करे क्यों भेदभाव ?
यह तो हो सकता न्याय नहीं;
क्या भला जातिगत पक्षपात
समता का बना उपाय कहीं ?

वह भेदनीति में क्या रहता
जो लोकतंत्र को अपनाता ?
क्या विषम स्वरों में समता का
है मधुर गीत गाया जाता ?

सब हों कर्मठ, कर्त्तव्य - निरत;
हो नहीं लूटने की प्रवृत्ति;
चिर भ्रष्टाचार - वंचना से
प्रत्येक मनुज की हो निवृत्ति।

नय में ही निष्ठा हो सबकी,
कृषिगत, औद्योगिक, व्यापारिक;
सम लाभ मिले तो रहें तुष्ट;
सब देशभक्तिमय हों सैनिक।

है लोभ - निहित क्या देशभक्ति ?
चिर लोकतंत्र हो आर्थिक भी;
चाहिए नहीं क्या जन - जन में
रहनी प्रवृत्ति चिर नैतिक भी ?

संशुद्ध लक्ष्य रहता सुदूर,
पर उसपर भी जाना होगा;
मिलता प्रकाश जो अम्बर में,
वह तल पर भी लाना होगा।

हो दृष्टि दूर तक भी जन की;
है निकट - दृष्टि पर्याप्त नहीं;
हो दृष्टि नहीं जब तक ऐसी,
हो सकता तिमिर समाप्त नहीं।

निर्धनता और अशिक्षा भी
क्या नहीं प्रबल हैं अन्धकार ?
उद्यम न रहे, श्रम नहीं पूर्ण
हो, लोकतंत्र तब निराधार।

जाना आवश्यक हो सुदूर
तो क्या न वहाँ जाना होगा ?
जो मुक्त अभाव - अशिक्षा से
वह लोकतंत्र लाना होगा ।

हो दृष्टि राजनैतिक - आर्थिक,
पर वांछित सदा सांस्कृतिक भी;
भौतिक ही केवल नहीं, दृष्टि
क्या हो न सतत आध्यात्मिक भी ?

●

६. सर्ग—६ : लोकशक्ति

कुछ नहीं निराशा का कारण;
है लोकशक्ति होती अपार;
पर आवश्यक है, इसमें हों
चिर सदाचार औ' सद्विचार ।

जन - जन में रहती लोकशक्ति,
हों खेतों या खलिहानों में;
खट रहे कारखानों में हों,
या हों रण के मैदानों में ।

होती सुगन्धिता लोकशक्ति
चिर जन - जन की सज्जनता से;
ऐसे ही होती कलंकिता
क्या भला नहीं दुर्जनता से ?

जो रहे जाति या सम्प्रदाय,
सज्जनता तो आवश्यक है;
जो भी पद या व्यवसाय रहे;
दुर्जनता से क्या सार्थक है ?

बढ़ती आई लोकशक्ति
संगठन, ऐक्य, कर्मठता से;
शाश्वत पावन संकल्पों से,
उन संकल्पों की दृढ़ता से।

हो गई अजेया लोकशक्ति;
इस पथ से चिर बढ़ती आई;
अधिकार - लक्ष्य के शिखरों पर
एकता सहित चढ़ती आई।

पर है रहता अवशिष्ट सदा
कुछ बढ़ने को, कुछ पाने को;
शाश्वत प्रयास में रत रह कर
मानवता - ज्योति जगाने को।

लेना विराम है कभी नहीं;
समता के हैं कितने प्रकार;
होना ही है पूर्णतः नष्ट
मानव - समाज में अनाचार।

यदि सुविधाओं की समता से
कोई नर वंचित रह जाये,
तो क्या समूह सुख पा सकता ?
उल्लास कहाँ से मिल पाये ?

प्रत्येक मनुज हो सुखी - तृप्त
जीवनानन्द की धारा से,
उन्मुक्त सर्वदा रह पाये
दासत्व - दैन्य की कारा से।

पशुता का पथ सर्वत्र सुलभ;
मानवता - पथ है अमित दूर;
जाने कब पाकर यह सुमार्ग
नाचेगा जन का मनमयूर।

यों जीवन तो चिर गतिमय है;
पर इसे बढ़ाते रहना है;
नर - तन को पाकर भी क्या चिर
वैषम्य - अनय को सहना है?

आनन्द - रश्मियाँ जीवन की
कुछ व्यक्ति लूटते क्यों जायें?
क्या अमित मनुज वंचित रह कर
कोई भी किरण नहीं पायें?

जायेगी सारी लोकशक्ति
समतामय साधन पाने को;
अथवा श्रेयस्कर मानेगी
इस हेतु क्रान्ति नव लाने को।

है नहीं मात्र लेना - लेना;
है नई प्राणवत्ता देनी;
चाहिए प्राणवत्ता निज में;
पर नहीं कभी अनुचित लेनी।

मानव न्यायोचित लेंगे ही;
फिर उसे पल्लवित कर देंगे;
अवदान यहाँ, व्यवसाय नहीं;
सिद्धान्त नहीं जन बेचेंगे।

पर लेना तो होगा अवश्य
जग में जो कुछ न्यायोचित है;
हाँ, तभी मनुज दे सकता है
भव को जो देना वांछित है।

विद्या, वैभव, अधिकार उचित,
चाहिए सदा समता - सुविधा,
है मनुष्यता का उचित प्राप्य,
इसमें क्या शंका या दुविधा?

कार्यालय हो या न्यायालय,
सबमें औचित्य अपेक्षित है;
सर्वदा लोक तब देगा ही;
देना स्वदेश को समुचित है।

चिर सबल - समादृत भारत हो;
हो समादृता भारत - भाषा;
यह तो आवश्यक सदा परम;
भारत - विमुक्ति की परिभाषा।

यह वैश्वजनीन रीति शाश्वत;
यह, नीति सदा है रक्षणीय;
शासन हो अथवा भाषा हो,
है नहीं विदेशी वांछनीय।

हो लोक समादरमय समुचित
निज अधिकारों से परिमण्डित,
तो क्या स्वदेश रह सकता है
निज गौरव - गरिमा से वंचित ?

जन - जन को उन्नत संस्कृति का
चिर समतामय वरदान मिले;
प्रत्येक मनुज चढ़ सकता है
यदि चढ़ने को परवान मिले।

बढ़ती आई है लोकशक्ति
लड़कर लेती कुछ सुविधाएँ;
निज रक्षा करती आई है
ठेलती हुई कुल दुविधाएँ।

बाधक पशुत्व पर आई है
जय देती निज मानवता को;
क्रमशः खण्डित करती आई
परवशता और विवशता को।

अभिशप्ति भयंकर थी कितनी;
भीषण थी बँधुआ मजदूरी;
शोषण, दोहन, उत्पीड़न था;
थी अमानुषिकता ही पूरी।

कितने प्रहार थे सामंती !
उनको कुछ कम करती आई;
थे भेदभाव के घाव अमित,
उनको क्रमशः भरती आई।

पर अभी बहुत अवशिष्ट पड़ा,
विश्वास कि पूरा कर देगी;
जो घाव बचे हैं भरने को,
उनको भी क्रमशः भर देगी।

अपनी अजेयता लोकशक्ति
युग को अवश्य दिखलायेगी;
सन्देह नहीं है, मनुजोचित
गिरमा - गिरि पर चढ़ जायेगी।

है कहाँ विषमता में गरिमा ?
वह चिर समता में ही रहती;
सह लेती कुछ दिन लोकशक्ति,
पर सदा विषमता क्या सहती ?

वे नर क्या होते देशभक्त
जो लोकशक्ति के बाधक हैं ?
जो अन्यायी, जो शोषक हैं,
संकीर्ण स्वार्थ के साधक हैं ?

वे तो मनुष्यता के अराति;
वे नर - समाज के शोषक हैं;
कहते हैं निज को जनपालक,
पर होते जनहित - भक्षक हैं।

कितना रहता है बड़ा उदर,
जो कभी नहीं है भर पाता !
भूखों का तन ही मरता है,
शोषक का सब कुछ मर जाता।

जो जनहित - रक्षा में मरते
वे तो होते हैं अजर - अमर;
पर जो जनहित - भक्षक होते,
पल भर में हो जाते नश्वर।

रजनी में ऐसा लगता है,
जाने कब आयेगा प्रभात;
पर उसको तो आना ही है,
जितनी भी लम्बी रहे रात।

यात्रा तो है अतिशय सुदीर्घ;
पर क्या न अनय होगा समाप्त ?
जो न्यायोचित है लोक - स्वत्व,
कर ही लेना है उसे प्राप्त।

है एक व्यक्ति की बात नहीं,
जिसका बल होता है सीमित;
आयत्त करेगी लोकशक्ति
यह लोकपुंज का स्वत्व उचित।

चिर लोकशक्ति में रहती ही
है नर - नारी - संख्या अगणित;
हैं कह सकते उसको असंख्य;
क्या रहता उसमें बल परिमित ?

आकलन भला क्या हो सकता ?
यह बल तो होता है अपार;
चलता है शनैः - शनैः सचमुच
उन्नत अवदानों का प्रचार।

रहता प्रचार में क्या परन्तु ?
वांछित सदैव है यथार्थता;
चिर न्यायोचित स्वत्वों को क्या
रख सकती दमित सदा सत्ता ?

यात्रा सुदीर्घ रहने पर भी
तो लक्ष्य मनुज पा ही जाता;
जितनी भी निविड़ तमिस्रा हो;
उसपर आलोक विजय पाता।

होता निराश जो कभी नहीं,
जो हो जाता विश्रान्त नहीं,
रखता जो ध्रुव गन्तव्य - दिशा,
हो सकता है वह भ्रान्त नहीं।

है लोकशक्ति बहुआयामी,
पर जय-यात्रा की एक दिशा;
मेघों के सिवा कहाँ ध्रुव को
करती अदृश्य है कभी निशा ?

चाहिए कि अम्बर हो निरभ्र,
अश्रान्त सतत हो यायावर;
अविरत गति से चलता जाये—
तो लक्ष्य रहेगा ही मिलकर।

प्राप्तव्य रहेगा यदि समुचित,
कब तक रख सकता अन्यायी ?
क्या नहीं स्वत्वहर्त्ता होगा
अन्ततः कलुष - उत्तरदायी ?

देना पड़ता है देय कभी,
चाहे जितना भी हो विलम्ब;
होती है जयिनी लोकशक्ति;
क्या रहती है चिर निरवलम्ब ?

क्या सत्य रूप रहता अदृश्य,
नयनों में वसा भले छाये ?
कोकिल क्या होगा काक रंच
वह चाहे गीत नहीं गाये ?

रहता है श्येन सदैव श्येन,
चाहे हो जाता मरण - ग्रस्त;
अक्षुण्ण सदा है विवस्वान,
लगता संध्या में भले अस्त।

यों ही दब कर भी लोकशक्ति
रहती सदैव ही है अदम्य;
जो उसे दमित करता उसको
वह नहीं मानती कभी क्षम्य।

डँसता हो चाहे नाग नहीं,
नागत्व कहाँ मिट जाता है ?
त्यों लोकशक्ति का भी पौरुष
क्या कभी पराजय पाता है ?

है लोकशक्ति दूर्वादलवत्;
उसका हो सकता नहीं अन्त;
ज्यों कोयल के स्वर - मधुवन में
गुंजित होता रहता वसन्त ।

देती स्वदेश को पूर्ण और
वास्तविक शक्ति चिर लोकशक्ति;
जब वही नहीं रहती स्वतंत्र,
वास्तविक नहीं तब देशभक्ति ।

उसकी स्वतंत्रता में बाधा
बाधित स्वतंत्रता को करती;
खण्डित कर देती है समाज;
कर देती धरती को परती ।

उसको समता मिलने पर ही
रहता है राष्ट्र समुन्नतिमय;
है लोकशक्ति पाती समान
सुख तो रहता है देश अभय ।

ज्यों अंग - अंग में देशभक्ति,
त्यों लोकशक्ति है जन - जन में;
चाहिए सबलता - सुखमयता
प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ।

तरु का कोई भी पल्लव यदि
दुर्बल - पीला हो जाता है;
क्या नहीं विटप होता दुर्बल ?
तन अखिल शिथिलता पाता है ?

हों कोटि मनुज या हों असख्य,
कोई हो नहीं स्वत्व - वंचित;
प्रत्येक व्यक्ति में रहता है
चिर लोकशक्ति का बल संचित ।

कैसे भी हो, पर एक व्यक्ति
से हैं अनेक सर्वदा सबल,
एकत्व रहे तो होते हैं
सम्पूर्ण राष्ट्र के दृढ़ सम्बल ।

कितना भी हो सुन्दर - प्रोज्ज्वल
सर क्या बन पाता रत्नाकर ?
क्या दे पाता है रत्न - राशि ?
क्या मिलता है उससे निर्झर ?

हो लोकशक्ति में पूर्ण शक्ति,
जो सम सुविधाओं से आती;
जन - जन को हो यदि सम अवसर,
तो सत्ता अजेयता पाती ।

जनशक्ति शक्ति है सत्ता की;
वह एक व्यक्ति में क्या होती ?
है बीज - बीज में निहित अन्न,
क्या एक बीज ही कृषि बोती ?

क्या कुछ सुन्दर विटपों से ही
है भरित - हरित होता मधुवन ?
क्या नहीं करीलों का भी दल
देता वृन्दावन को जीवन ?

त्यों व्यक्ति - व्यक्ति को सम अवसर
जब होता है सर्वदा सुलभ,
तो राष्ट्रशक्ति होती अतुलित,
देता कुल जनगण निज सौरभ ।

प्रत्येक व्यक्ति से वांछित है
मकरन्द - सबलता का प्रयास,
यों ही स्वच्छता नहीं आती;
है सुरभि न मिलती अनायास ।

बढ़ती हैं स्वतः मलिनताएँ;
यों ही बढ़तीं दुर्बलताएँ;
स्वच्छता - सबलता के सुयत्न
ही देते उचित सफलताएँ ।

सबमें है शक्ति निहित अतुलित;
क्यों हो कोई मानव निराश ?
काटते रहें तो कट जाता
भीषण अकाट्यवत् वज्रपाश ।

नारी में तो बल है विशेष,
वह कभी नहीं रहती अबला;
उसकी संकल्प - अभयता चिर
देती है उसे विजय सबला।

नर - नारी की सम्मिलित शक्ति
है लोकशक्ति को देती जय;
यह सहयोगी बल है सदैव
होता अजेय, चिर मंगलमय।

इसमें ही तो सौरभ अपार;
सुरभित होगी शाश्वत समष्टि;
देकर अपना कुल श्रम - सौरभ,
पूर्णतः व्यक्त हो व्यष्टि - व्यष्टि।

यह शक्ति भले अव्यक्त रहे,
पर होगी ही अन्ततः व्यक्त;
कितनी भी शक्ति किसी में हो,
है लोकशक्ति सबसे सशक्त।

हो लोकशक्ति उन्मुक्त कि ज्यों
उन्मुक्त वायुमण्डल सदैव;
बल रहता निहित मुक्ति में ही;
हो लोकसंघ - बल भी तथैव।

सर्वत्र विजयिनी होगी ही
दृढ़ लोकशक्ति कालान्तर में;
जल - जन्तु खेलते हैं जैसे
अतुलित - अगाध जल - सागर में।

जल का स्तर करें विषम जितना
भी, हो जाता वह सत्वर सम;
क्या मानव - गण रह सकते हैं
सर्वदा अनय - सन्तप्त, विषम ?

यदि कभी चलेगा विप्लव - क्रम
तो वह चलता ही जायेगा;
भूतल देगा साफल्य न यदि,
तो लूट व्योम से लायेगा।

क्या लोकशक्ति ने सहन किया
है कभी किसी का अहंकार ?
उसका असह्य होता प्रहार
जब करने लगती धुआँधार।

केवल कण्टक ही नहीं, सुमन
भी होते हैं लड़नेवाले;
यों ही हो सकते बाल - वृद्ध
सारे ही रण करनेवाले।

है लोकशक्ति की जय - यात्रा
अन्ततः अवश्य सफल होती;
वे आँखें भी हँस उठती हैं
जो रहती हैं बेबस रोती।

मृत्तिका - उटज विजयी होते,
हारते रहे हैं स्वर्ण - सदन;
अधिनायक - अयन विजित होंगे;
जय - मण्डित होगा लोकायन।

होती ही जयिनी लोकशक्ति
यदि रहती चिर नैतिकता है;
चिर सच्चरित्रता में अम्बुधि;
कर्मठता - निहित सबलता है।

एकता सतत अक्षुण्ण रहे;
उद्धेश्य सर्वदा पावन हो;
अनुशासनमय चिर हो जीवन;
जाग्रत - अभियानी यौवन हो।

अभियान सदा हो रचनात्मक;
उत्सर्ग वृतिमय चिर धन हो;
क्यों करें अपव्यय - दुरुपयोग ?
चिर देशभक्तिमय तन - मन हो।

कल्पना - सुमण्डित हो मानस;
उत्थानवृत्ति चिर हो विकसित;
शोषित न कहीं कोई भी हो;
कोई न कभी हो उत्पीड़ित।

क्या लोकशक्ति ने सहन किया
है कभी किसी का अहंकार ?
उसका असह्य होता प्रहार
जब करने लगती धुआँधार।

केवल कण्टक ही नहीं, सुमन
भी होते हैं लड़नेवाले;
यों ही हो सकते बाल - वृद्ध
सारे ही रण करनेवाले।

है लोकशक्ति की जय - यात्रा
अन्तत: अवश्य सफल होती;
वे आँखें भी हँस उठती हैं
जो रहती हैं बेबस रोती।

मृत्तिका - उटज विजयी होते,
हारते रहे हैं स्वर्ण - सदन;
अधिनायक - अयन विजित होंगे;
जय - मण्डित होगा लोकायन ।

होती ही जयिनी लोकशक्ति
यदि रहती चिर नैतिकता है;
चिर सच्चरित्रता में अम्बुधि;
कर्मठता - निहित सबलता है।

एकता सतत अक्षुण्ण रहे;
उद्धेश्य सर्वदा पावन हो;
अनुशासनमय चिर हो जीवन;
जाग्रत - अभियानी यौवन हो।

अभियान सदा हो रचनात्मक;
उत्सर्ग वृतिमय चिर धन हो;
क्यों करें अपव्यय - दुरुपयोग ?
चिर देशभक्तिमय तन - मन हो।

कल्पना - सुमण्डित हो मानस;
उत्थानवृत्ति चिर हो विकसित;
शोषित न कहीं कोई भी हो;
कोई न कभी हो उत्पीड़ित।

यदि रहे सदैव मितव्ययिता,
साधन का क्या होगा अभाव ?
जीवन हो सदा शीलतामय;
पावनतामय चिर हो स्वभाव ।

है जहाँ भोगलिप्साा रहती,
धनलिप्सा आ ही जाती है;
ईमानदार क्या रह पाते ?
पशुता नरता को खाती है ।

ज्यों सत्य अमर होता ही है;
है समुचित स्वत्व नहीं मरता;
अन्यायी, दम्भी, दुष्टहृदय
ही सदा उपेक्षा है करता ।

वांछित सदैव है नरता ही;
आवश्यक है उसकी ऋजुता;
क्यों भला मनुजता छोड़ कभी
मानव अपनाता है पशुता ?

पा लेता है स्तर अपना ज्यों
पीटा जाता जितना भी जल;
त्यों लोक - मनुजता जाग्रत हो,
संगठन - शक्ति से पाती बल।

क्या अनेकता रहती सदैव ?
अन्ततः एकता आती है;
करती है आन्दोलन-विप्लव;
सत्ता अवश्य निज लाती है।

जैसे ऊर्जा की ज्वाला से
दीपक दे पाता है प्रकाश;
अंगारों के आलिंगन से
साकल्य - अगर देते सुवास।

त्यागती नहीं पल भर विवेक;
रखती स्वदेश का सदा ध्यान;
अनुकरण अन्ध कभी करती न;
रखती अजेय है आत्म - ज्ञान।

ऐसी ही अतुलित लोकशक्ति
सर्वदा अजेया होती है;
बोती न वैर के बीज कभी;
एकत्व - बीज ही बोती है।

ऐसी कृषि को पाता न मार
अति घोर अवर्षण या अकाल;
उच्चतर हिमालय - शृंगों से
भी लोकशक्ति का भव्य भाल।

●

१०. सर्ग—१० : उत्तरायण

आई है बढ़ती लोकशक्ति
सहजीवन का आलोक लिये;
सहयोग - समपर्ण - सेवा का
ध्वज सतत समुन्नत - सबल किये।

नर को नरत्व से शक्ति मिली,
सम्भव वह नहीं अनरता से;
जैसे कृषि हित श्रम आवश्यक;
क्या हो केवल उर्वरता से ?

नरता, नैतिकता, मनुज - मूल्य
ही मानव के सर्वोपरि बल;
सामाजिकता - सद्भाव - निहित
ही है मनुष्य - जीवन प्रोज्ज्वल।

केवल साधन - सम्पत्ति नहीं;
संकाश अवश्य अपेक्षित है;
संत्रास - मुक्ति, सत्कर्म - निरति
ही कर पाती सज्जीवित है।

वांछित केवल उपकरण कहाँ?
मनुजत्वमयी अभिलाषा हो;
कवि - कविता में मानवता हो;
जो देश, राज्य या भाषा हो।

हो लक्ष्य मयंक नहीं केवल;
रवि - सम्मुख भी अभियान रहे;
अर्जन - संचय के संग लक्ष्य
सेवा - उत्सर्ग प्रधान रहें।

प्लावन, भूकम्प, तुषारपतन
झेलती साहसिक लोकशक्ति;
भूस्खलन, आक्रमण, महाव्यधि
करती सुविजित देशानुरक्ति।

देशानुरक्ति, समवाय - निरति
देतीं बल - सम्बल जनगण को;
चिर सत्य - न्याय - समता से ही
मनुजत्व सुलभ है जन - जन को।

संस्कार उच्च, निज सदाचार
घोषित करते नर को सुजात;
नारियाँ सुजाता कहलातीं;
अनिवार्य कहाँ है शक्तिपात ?

क्या लोकशक्ति वोटों में ही ?
चारित्र्य अपेक्षित मनुजोचित;
अपनी उदात्त मानवता से
मानव है सम्मानित, अविजित।

चिर लोकशक्ति कों है बढ़ना
शुभ सामंजस्य - समन्वय से;
चाहिए लोकजय भी अवश्य,
सर्वदा मुक्त नर हो भय से।

शुचि सहिष्णुता - सहयोगशक्ति
कर देतीं जनगण - सुख सम्भव;
पशुवत् यदि स्वार्थ - कलहरत हो
मानव, तो क्या उसका गौरव ?

है कलह नहीं गौरव - दायक;
मानव - संज्ञा क्या दे पाता ?
सुख - शान्ति हेतु हो प्रीति सतत,
उच्चतम लक्ष्य है मिल जाता।

हों दिवास्वप्न या निशा - स्वप्न,
उनसे क्या कुछ सम्भव होगा ?
पुरुषार्थपूर्ण यदि हो जीवन,
पर्याप्त प्राप्त वैभव होगा।

केवल वैभव हो नहीं ध्येय;
मानवता का भी ध्यान रहे;
कविता - संगीत - नाट्य का भी
चिर संरक्षण - सम्मान रहे।

इनमें अदृश्य है लोकशक्ति
प्रेरणामयी, निर्माणमयी;
जयमयी और जयगानमयी;
अभियानमयी, कल्याणमयी।

है स्रोत शक्ति के विविध सदा,
सन्धान किन्तु करना पड़ता;
बल रहे कथंचित् मित भी तो
श्रम से जय - घट भरना पड़ता।

जन होना ही पर्याप्त नहीं,
सज्जन होना भी आवश्यक;
जैसे सत्कर्म - निरति से ही
जीवन हो पाता है सम्यक्।

क्यों घृणा-द्वेष-आतंक रहें
जन सद्भावी, निःशंक रहें;
कोलाहल, झंझावात न हों,
सम्मिलित शक्ति की धार बहे।

ईर्ष्येय, आचरण - योग्य सदा
रहकर, अजस्र बढ़ते आये;
भूस्खलन और हिमपातों से
लड़ते, गिरिवर चढ़ते आये।

मानव - जययात्रा है सुदीर्घ;
क्रमशः इस पथ पर बढ़ना है;
अभियान अल्प ही नहीं सफल,
अनवरत प्रगति - गिरि चढ़ना है।

आलोक नहीं सीमित रहता,
वह तो असीम, शाश्वत, अपार;
खोलना हमें आलोकमयी
चिर महाज्योति का रुद्ध द्वार।

कितना भी अगणित कवि लिखते,
फिर भी अलिखित कुछ रह जाता;
अगणित रह जाता गणना से
मानव है छोर नहीं पाता।

क्या अर्थ - काम हों अनियंत्रित ?
चिर मर्यादित हों जन - मन में;
बढ़ती जायेगी लोकशक्ति;
मधुसुमन खिलेंगे कण - कण में।

चाहिए विनय, जनसत्ता क्यों
क्षण भर भी दुःशासिता रहे ?
वह अनुशासिता रहे यदि चिर,
क्यों दमित और दण्डिता रहे ?

अनवरत अपेक्षित अनुशासन
जनगण में भी, शासन में भी;
निर्लोभ और चिर अनासक्त
नर हों, परिजन - बन्धन में भी।

है दृश्य जगत् ही नहीं ध्येय,
अविरत अदृश्य - उन्मुख भी हों;
करना है साक्षात्कार हमें,
इसमें यदि अतिशय दुख भी हों।

सुख - दुख - निरपेक्ष मनुजता है;
जनगण सत्कर्मोन्नायक हों;
शुभ ध्येय - बिन्दु हो, कवि अवश्य
लोकोदय - पथ के गायक हों।

●